ीन भक्त की
कलायें

प्राचीन भारत की बहनें

आ. रत्न कनकनंदीजी

प्राचीन भारत की बहत्तर कलायें

आदर्श पंचकल्याणक (देवरी) में भ. पार्श्वनाथ की मूर्ति पर संस्कार करते हुए आ. श्री कनकनंदीजी गुरुदेव

लेखक
विज्ञानाचार्यश्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान तथा
धर्म दर्शन सेवा संस्थान–ग्रंथांक 34

प्राचीन भारत की बहत्तर कलायें

पावन प्रसंग – भगवान् महावीर की 2600वीं जन्मजयन्ती
लेखक – विज्ञानाचार्यश्री कनकनंदी जी गुरुदेव

मनुष्य की अन्तर्निहित उत्तमोत्तम प्रतिभा/योग्यता/उपलब्धियों की अभिव्यक्ति/ निखारने का माध्यम 'कला' है। कला से स्व–पर का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सर्वांगीण विकास होता है। नारायण श्रीकृष्ण गोपालन, बंशीवादन, नृत्य से लेकर दुष्टदलन और सन्तपालन (राजनीति, कानून) तक की 16 कलाओं से युक्त थे। बसुदेव, राजा नल, महात्मा बुद्ध, केकयी, कामध्वजा, हनुमान आदि अनेकानेक कलाओं से युक्त थे। तीर्थंकर भगवान् तो गर्भ से ही अनेक कला/अतिशय/गुण /ज्ञान से युक्त होते हैं और सर्वज्ञावस्था में तो "सर्व विद्या ईश्वरत्व" अर्थात् समस्त ज्ञान, विज्ञान, कला से युक्त होते हैं। कला में केवल नृत्य, गान, चित्रादि गर्भित नहीं हैं अपितु कला में अंकाक्षरी शब्द ब्रह्म विद्या से लेकर परमब्रह्म विद्या तथा गणित, राजनीति, कानून, कृषि, वाणिज्य आदि भी गर्भित हैं। वर्तमान में जो कला के नाम पर अश्लील, अनैतिक, मारकाट, चोरी–डकैती आदि का प्रदर्शन, सिनेमा, टी.वी., कवि सम्मेलन, नृत्य, शादी–विवाह में हो रहा है वह कला के नाम पर महाकाल है, कालकूट विष है। इसे स्व–पर–राष्ट्र–विश्व को "सत्यं शिवं सुन्दरम्" बनाने के लिए रोकना होगा।
– आचार्यरत्न कनकनंदीजी गुरुदेव

द्रव्यदाता : श्री गुणपालजी जैन (अध्यक्ष : धर्म-दर्शन-विज्ञान-शोध संस्थान)
बेहड़ा भवन 87/1 कुंदनपुरा, मुजफ्फरनगर फोन. (0294) 440793
मूल्य : (ज्ञान प्रचारार्थे आपकी सहयोग राशि) - 15.00
संस्करण : परिवर्तित नवीन वृहद् द्वितीय संस्करण, **प्रतियाँ** : 1000
www.jain kanaknandhi.org.
E-Mail - info@jainkanaknadhi.org.
Jain Kanaknandhi@rediffmail.com
Pass word - Kanaknandhi
1. धर्म–दर्शन–विज्ञान सोध संस्थान – बड़ैत, मुजफ्फरनगर, कोटा, उदयपुर, सलुम्बर, मुम्बई)
2. धर्म दर्शन सेवा संस्थान – उदयपुर (राज.).
पंजीयन क्रमांक / 18 / उदयपुर01–02

प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान–

(1) श्री सुशीलचन्द्रजी जैन–
'धर्म–दर्शन–विज्ञान शोध संस्थान' निकट दि. जैन धर्माशाला, बड़ौत
फोन. नं. (01234) 62845

(2) श्रीमती रत्नमाला जैन C/o डॉ. राजमलजी जैन
4–5 आदर्श कॉलोनी पुलाँ, उदयपुर (राज.)फो. नं. (0294) 440793

(3) श्री गुणपालजी जैन
बेहड़ा भवन 87/1 कुंदनपुरा मुजफ्फरनगर फो नं. : (0131) 450229

(4) श्रीमती लक्ष्मीगुरुचरण जी जैन
144 मुवी टावर नीयर, मिल्लतनगर लोखण्डवाला कॉम्पलेक्स,
अंधेरी (प.) मुंबई–400053
फोन नं. : (022) 6327152, 6312124, 6327152

(5) 'सेवाश्री' सुरेखा जैन (शिक्षिका) w/o वीरेन्द्रकुमार डालचन्दजी गड़िया
कपड़े के व्यापारी – सलुम्बर जि. उदयपुर पिन. 313001
फोन नं. : (02906) 32043

(6) श्री महावीर कुमार जैन
13 अग्रसेन कॉलोनी, दादाबाड़ी कोटा फोन नं. : (0744) 410818

(7) धर्म दर्शन सेवा संस्थान
C/o चन्द्रप्रभु मंदिर, आयड़, छोटूलाल चित्तोड़ा
आयड़ बस स्टोप के पास, उदयपुर–313001(राज.)
फोन न. 413565

(8) Pradhuman S. Javeri, (M.S., Elect. Eng.)
5829, Broad Well Drive, Plano, TX. 75093 (U.S.A.)
E-mail : laxmizaveri@yahoo.com, Ph. : 011-972-608-0400

लेसर टाईप सेटर्स :
श्री कुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर 25, शिरोमणि बंगलोज,
सी.टी.एम. चार रस्ता के पास, अहमदाबाद–380026
फोन – 5892744, 5891771

आशीर्वाद

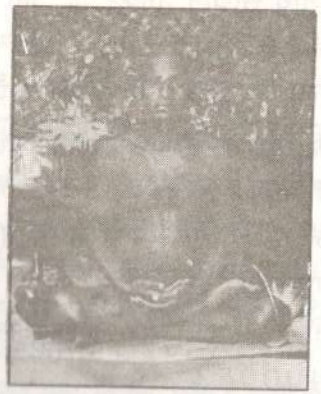

प्रसन्नता का विषय है कि उपाध्याय कनकनन्दी महाराज का 43वाँ पुष्प "72 कलायें" नामक पुस्तक के रूप में आपके समक्ष आ रहा है। उपाध्याय जी ने अपने अन्यान्य ग्रन्थों द्वारा धर्मावलम्बियों को आगमबोध कराने का सफल प्रयास किया है। जनमानस को एक नई दिशा प्रदान की है। अपने गहन अध्ययन एवं विश्लेषण के उपरान्त तथ्यों को लेखनीबद्ध करके आपके समक्ष रखा है। विज्ञान, स्वास्थ्य, मंत्र विज्ञान आदि को धर्म के साथ जोड़कर जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं वास्तव में प्रशंसनीय कार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में उपाध्यायजी ने दर्शाया है कि भगवान वृषभदेव ने ही अपने पुत्र, पुत्रियों को सर्वप्रथम अक्षर–विद्या, अंकविद्या, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि की शिक्षा दी जिसके प्रमाणस्वरूप साक्ष्य भी प्रस्तुत किये हैं। उपाध्याय जी इस प्रकार से जनकल्याण हेतु दिग्दर्शन करते रहे ऐसा उन्हें मेरा आशीर्वाद है।

ग. आ. कुन्थुसागर
रोहतक (हरियाणा)
वर्षायोग 26 सित. 1991
(प्रथम संस्करण से)

अभिवंदनीय आचरण ही अनुकरणीय

साध्वी ऋद्धिश्री
(संघस्थ आचार्यरत्न श्री कनकनंदीजी गुरुदेव)

मेरी आस्था / श्रद्धा के अकम्प दीप स्तम्भ परम पूज्य आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव के पावन श्री चरणों में मेरा सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटि–कोटि नमन् वंदन। गुलाब का फूल जब अपनी सुवास / सुषमा / कोमलता को लेकर डाली पर विकसित होता है तो डाली ही नहीं पूरा उपवन सुवास की मिठास से झूम–झूम उठता है। इसीप्रकार जब कोई महापुरुष साधना की धरा पर अवतरित होकर अपने त्याग, तपस्या, साधना की सुरभि से सुवासित करता है तब जन–जन का मानस तो क्या जगती का कण–कण उस सौरभ / सुवास से सुवासित / प्रभावित होता है। पूज्य कनकनंदीजी गुरूदेव के त्याग, तपस्या, दया, क्षमा, करुणा, उदारता, संवेदना, सहिष्णुता, वात्सल्यता आदि सद्गुण रूपी पुष्पों ने जन–जन का जीवन पुष्पित–पल्लवित, सुवासित किया है।

पूज्य गुरुदेव ने स्वात्म साधना के बल पर यह सिद्ध किया है कि पुरातन विरासत से प्राप्त उपलब्धियों से भी अधिक महत्वपूर्ण स्व–पुरूषार्थ से उपार्जित उपलब्धियाँ हैं। इसीलिए आपने अपने कर्म का चयन करने के लिए हरकार्य क्षेत्र को गहन, सूक्ष्म दृष्टिकोण से जाँचा, परखा है। आपके जीवन के सत्य एवं समता दो मुख्य सूत्र रहे हैं। इसीलिए आप किसी धर्म, जाति, संप्रदाय, भाषा, परम्परा, रीति रिवाज, संकीर्ण नीति नियम, कानून में न बँधकर, इन सबसे अलग हट कर सतत् परिश्रम, कर्तव्यनिष्ठा, परस्पर में सहयोग, सहकार, संगठन, एकता, निर्मल, पवित्र, सहज–सरल, उदात्त–उदार भावनायें, सत्य को जानने, मानने, पाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। रुढ़िवादी घिसे–पिटे धार्मिक क्रियाकाण्ड, छलछद्रम से परिपूर्ण राजनीति, स्वार्थपरता युक्त सेवा, विनाशकारी, अशांतिदायक, भौतिक वैज्ञानिक प्रगति का खण्डन–मण्डन करते हुए आपने अपनी तर्कशील मेधा, प्रखर प्रज्ञा, पारदर्शी विवेक द्वारा सभी विधाओं के ऊपर, 6 भाषा में 135 ग्रंथ लिखकर विश्व के सामने एक बेमिशाल चुनौती प्रस्तुत की है कि धर्म, राजनीति, विज्ञान, कानून, शिक्षा, समाज सभी में अनेकान्तिक सत्य, समता का सामजस्य / समन्वय होना चाहिए। आप जैन श्रमण परम्परा के आध्यात्मिक संत होने के बावजूद भी देश–विदेश के दार्शनिक, वैज्ञानिक, चिन्तक, लेखक, साहित्यकार, शिक्षाविद् न्यायविद्,

डॉक्टर, इंजीनियर, बुद्धिजीवियों के साथ वात्सल्यमयी स्नेह, सौहार्द का व्यवहार करके उनके साथ घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसीलिए आप एक जैन श्रमण संस्कृति के आध्यात्मिक संत ही नहीं बल्कि दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजसुधारक, राजनीतिज्ञ, विश्व धर्म प्रणेता भी हैं। इसीलिए आपकी बहुमुखी प्रतिभा की छवि चारों दिशाओं में फैल रही है। सत्यनिष्ठा, उदारता, गुण ग्राहकता, जिज्ञासु प्रवृत्ति सरल–सहज, निश्चल बालकवत् प्रवृत्ति आदि गुणों ने आपके व्यक्तित्व को परिष्कृत / परिमार्जित / उज्ज्वल समुन्नत बनाया है। इन सभी सद्गुणों के कारण आपने धार्मिक विकृतियों को, सामाजिक असहिष्णुता को, बौद्धिक शुष्कता को एवं नैतिक नियमों के पतन से उत्पन्न आसुरी दुष्प्रवृत्तियों से मानव समाज को बचाने के सफल / सार्थक परिणाम हासिल किये हैं। आपकी उपलब्धियों से हर समाज, परिवार, व्यक्ति लाभान्वित होते हैं। आपने कभी भी भूमि, भवन मठ, मंदिर, धर्मशाला निर्माण में विश्वास नहीं किया है। बल्कि नन्हें– मुन्ने बाल युवा पीढ़ी में सुसंस्कारों में विश्वास किया है इसीलिए आप जड़मूर्ति का पंचकल्याणक नहीं कराते बल्कि चेतन जीवन्त नन्हें मुन्ने बच्चों को सुशिक्षा, सुसंस्कारों से संस्कारित करते हैं। आप धार्मिक पूजा–पाठ की अपेक्षा दूसरों के साथ सद्व्यवहार दीन–दुःखी, असहाय, अनाथों की सेवा, परोपकार को अधिक महत्व देते हैं। आपकी दृष्टि में उदारता, सत्यता, सहिष्णुता, संवेदना, नैतिकता, सदाचार, सादगी, दया, क्षमा, करुणा, प्रेम वात्सल्य, समयानुबद्धता, स्वावलम्बन कर्तव्य पालन आदि गुण महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसीलिए आप इन सद्गुणों के विकास हेतु जगह–जगह प्रशिक्षण शिविर, संगोष्ठी इत्यादि कार्यक्रम करते रहते हैं। आपने गाँव–गाँव, नगर–नगर में परिभ्रमण करते हुए बाल, युवा, प्रौढ़, जैन, जैनेतर सभी में इन सद्गुणों का बीजारोपण करके नयी प्रबुद्ध चेतना शक्ति का अलौकिक सूत्रपात किया है।

पूज्य कनकनंदीजी गुरुदेव के बहुमुखी उद्देश्यों को गति प्रदान करने में ''धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान'' एवं ''धर्म दर्शन सेवा संस्थान'' भी विगत 12 वर्षों से पूरे तन, मन, धन, समय, श्रम, शक्ति के साथ कार्यरत हैं। संस्थान के सभी कार्यकर्ताओं के सहयोग से इंटरनेट, ई–मेल के माध्यम से जैन दर्शन के साथ–2 प्राचीन भारत की सभ्यता संस्कृति को जन–जन तक पहुँचाने का कार्य कर रहे हैं एवं राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की सर्वव्यापी, साम्यवादी उदार–उदात्त भावनाओं से संपूर्ण विश्व को एकीकरण के सूत्र में बाँधने

के लिए चार राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठियाँ एवं आगामी अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी की रूपरेखा तैयार की जा रही है ताकि संपूर्ण विश्व में भगवान् महावीर का संदेश पहुँच सके।

सोये हुए भारतीयों को जगाने के लिए आचार्य कनकनंदीजी गुरुदेव संकीर्णताओं से ऊपर उठकर ''सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'' के लिए कार्यरत हैं। जिसके पीछे न उनकी स्वयं की कोई महत्वाकांक्षायें हैं और न आत्मख्याति, पूजा, प्रसिद्धि मान सम्मान की लिप्सा। सिर्फ अंतःकरण में सत्य, समता के प्रति अटूट आस्था / श्रद्धा है। सत्य, समता को पूज्य गुरूदेव विश्व के जन–जन में प्राण प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वास्तव में महापुरुषों का जीवन समुद्र से भी अधकि गंभीर, विशाल होता है।

पूज्य गुरुदेव का जीवन अनंत अंतरिक्ष के समान विशाल, विस्तृत है जिसका कोई ओर–छोर नहीं है। पूज्य श्री की महानता, श्रेष्ठता, गौरव गरिमा, महिमा लिखने के लिए मुझ अल्पज्ञ के शब्दकोष में शब्द भी नहीं है जो कुछ 4–6 शब्द लिखे भी हैं वह भी गुरुदेव की शिक्षा, प्रेरणा, मार्गदर्शन, आशीर्वाद, असीम अनुकंपा का ही प्रतिफल है। कैसे लिपिबद्ध करूँ पूज्य श्री के उन असीम गुणों को ? गुरुदेव के ओजस्वी, तेजस्वी, महिमाशाली व्यक्तित्व के बारे में जब–जब सोचती हूँ एवं लिखने का उपक्रम करती हूँ तब–तब भाव तो एकत्रित होते हैं पर शब्द बनकर कागज पर उतर नहीं पाते बिल्कुल उन्हीं बादलों की तरह जो काले–काले होकर उमड़–घुमड़कर आते हैं पर बिना बरसे ही लौट जाते हैं। लेकिन फिर भी मेरा अहो–सौभाग्य है कि ऐसे ज्ञानी, विज्ञानी, वात्सल्यमयी गुरु के पावन श्री चरणों का सानिध्य, उनकी छत्रछाया, एवं उनसे ज्ञानार्जन करने का असीम लाभ मुझे प्राप्त हुआ है।

मेरी यह आन्तरिक भावना है कि गुप्त–सुप्त प्रतिभाशाली व्यक्ति गुरुदेव का सानिध्य प्राप्त करें एवं गुरुदेव की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आशीर्वाद, शिक्षा को पाकर अपनी प्रतिभाओं का प्रकटीकरण, प्रस्तुतिकरण करें। मुझे पूर्ण आशा / विश्वास है कि आप जैसे सत्य शोधक, सरल, सहज, उदार, उदात्त, वात्सल्यमयी, ज्ञानी, विज्ञानी गुरु का सानिध्य हर किसी को सहजता, सुलभता से नहीं होता। जिसे भी ऐसे गुरु का सानिध्य प्राप्त हो वह स्वात्म सुख के साथ–2 परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व का नवनिर्माण सद्गुण, सुसंस्कारों के साथ सुसम्पन्न करें।

आमुख

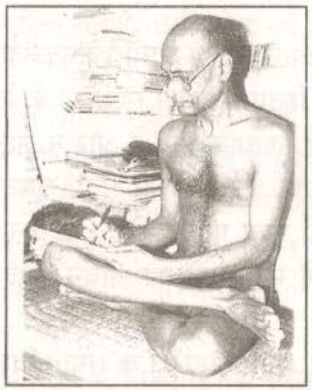

कला बहत्तर नरन की यामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका दूजी जीव उद्धार॥

जीवन को ज्ञान–विज्ञानमय सहज, सरल, सुन्दर एवं रस पूरित बनाने के लिए गहन तत्वज्ञान के साथ–साथ कला का ज्ञान होना अनिवार्य है। संसारी जीव रोजमर्रा तनावपूर्ण व्यस्त जीवन को लालित्य कला के माध्यम से सहज–सरल–सुन्दर–सरस रूप बनाते हैं। संगीत आदि कला से तनाव, मानसिक रोग, शारीरिक रोग दूर होने के साथ मनोरंजन होता है एवं वातावरण परिशुद्ध होता है। इसलिये जब से मानव संस्कृति सभ्यता है तब से कला का प्रचलन सतत् रूप से प्रवाहमान है।

प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने के बाद ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल (चतुर्थ काल, सतयुग) में ऋषभनाथ भगवान् ने गृहस्थावस्था में ब्राह्मी को अक्षर–लिपी–कला और सुन्दरी को अंक–लिपी–कला तथा भरत, बाहुबली आदि पुत्रों को अर्थशास्त्र, राजनीति, नाट्य आदि कलाओं का प्रशिक्षण दिया था। इसका वर्णन आदि–पुराण में निम्न प्रकार पाया जाता है–

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेम पट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवी सपर्यया॥103॥
विभुः करद्वेयनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपि संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥104॥

भगवान् ऋषभदेव ने ऐसा कहकर तथा उन्हें बार–बार आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थिर श्रुत देवता को आदर पूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से उन्हें अ, आ आदि वर्णमाला उन्हें लिपि (लिखने का) उपदेश दिया और अनुक्रम इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या के ज्ञान का भी उपदेश दिया। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखी थी।

ततो भगवतो वक्त्राद्विनिःसृतामक्षरावलीम्।
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम्॥105॥
अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्॥106॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासुसंततम्।
संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम्॥107॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्॥108॥

तदन्तर जो भगवान् के मुख से निकली हुई है, जिसमें ''सिद्धं नमः'' इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर और व्यंजन के भेद से जो भेदों को प्राप्त है, जो समस्त विद्याओं में पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरों की उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरों से व्याप्त है, और जो शुद्ध मोतियों की माला के समान है ऐसे 'अकार' को आदि लेकर 'हकार' पर्यंत तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्यमानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और अतिशय सुन्दर सुन्दरी देवी ने 'इकाई दहाई' आदि स्थानों के क्रम से गणितशास्त्र को अच्छी तरह धारण किया।

लिपि निर्माण का इतिहास– मानवीय सभ्यता संस्कृति, आध्यात्मिक उन्नति के लिए शिक्षा का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण अग्नि से संस्कारित होकर, विशुद्ध होकर चमकदार मूल्यवान एवं बहुपयोगी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य शिक्षा द्वारा सुसंस्कृत होकर विशुद्ध ज्ञानवान, तेजवान, चारित्रवान एवं बहुआयामी हो जाता है। नीतिकारों ने बताया है–

''विद्या विहीनं पशुः''

मनुष्य विद्या से हीन पशु के समान है। मनुष्य को पशु–स्तर से ऊपर उठाकर मानव, महामानव एवं भगवान् बनने के लिए विद्या की नितान्त आवश्यकता है।

भोगभूमिज मनुष्य स्वभाविक अनुकूल परिस्थिति एवं सुलभ प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण जीवन क्षेत्र में विशेष संघर्ष नहीं करते थे। वे लोग स्वभावतः पूर्वजन्म के संस्कार से सदाचारी नीतिवान थे। उस समय में सामाजिक राष्ट्रीय संगठन भी नहीं था।

(1) सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण, (2) सामाजिक राष्ट्रीय आदि संगठन के अभाव के कारण, (3) स्वाभाविक नैतिक एवं सदाचार के कारण, (4) जीवन क्षेत्र में विभिन्न संघर्षों के अभाव के कारण भोगभूमि काल में दूसरों से प्राप्त शिक्षा की विशेष आवश्यकता न होना स्वाभाविक भी था।

कर्मभूमि प्रवेश के प्राथमिक चरण में भोगभूमि की समस्त परिस्थिति परिवर्तित हो चली। उस समय में काल, परिस्थिति परिवर्तन के साथ–साथ सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्री ह्रास होती चली। स्वतन्त्रता पूर्ण, व्यक्तिगत जीवन समाप्त होकर सामाजिक जीवन क्रमशः वृद्धिगत हो रहा था। इस परिस्थिति में मनुष्य को नैतिक, सदाचारी, ज्ञानी, संगठन प्रिय एवं युगानुकूल आगे अग्रसर होने के लिये शिक्षा की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य थी। उस काल के इस भूखण्ड के महाज्ञानी, दूरदृष्टि सम्पनन ऋषभदवे ने उपरोक्त दृष्टिकोम को लेकर शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए अपने घर(या परिवार) से ही प्रारम्भ किया। क्योंकि व्यक्ति से परिवार से, समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है। इसलिए व्यक्ति तथा परिवार को शिक्षित, सभ्य, नैतिक बनाना ही समाज एवं राष्ट्र को शिक्षित नैतिक बनाना है।

आदिनाथ की दो पुत्रियाँ एवं सौ पुत्र थे। अब ब्राह्मी एवं सुन्दरी शैशव अवस्था का अतिक्रम करके कुमारी अवस्था में पदार्पण कर रही थीं तब ऋषभदेव ने दोनों को शिक्षा प्राप्त कराने के लिए योग्य पात्र समझकर दोनों को विद्या शिक्षा प्रदान की। ब्राह्मी कुमारी को आदिनाथ ने 'अ, आ' आदि स्वर व्यंजनात्मक वर्णमाला की पद्धति सिखाकर अक्षर विद्या सिखलायी। सुन्दरी को 1, 2 आदि संख्या के माध्यम से अंक विद्या सिखलायी। इसी प्रकार अत्यन्त ही प्राचीन काल से स्त्री शिक्षा के साथ–साथ अंकाक्षर विद्या प्रारम्भ हुई। वह काल आधुनिक भाषा में

कहने पर प्राग्ऐतिहासिक काल होगा जो कि ईसा पूर्व अनेक अरबों–खरबों वर्ष पहले है। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि अंकाक्षर विद्या कुछ हजार वर्ष पहले प्रारम्भ हुई। परन्तु जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि वाङ्मय के अध्ययन से सिद्ध होता है कि अंकाक्षर विद्या का प्रारम्भ अत्यन्त ही प्राचीन काल में हुआ है।

लिपि के बारे में आधुनिक मत–वर्तमान संसार में प्रायः चार सौ प्रधान लिपियाँ प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वानो के मतानुसार ईसा पू. 100वीं सदी में वर्णमालात्मक लिपियाँ प्रारम्भ हुई। आधुनिक विद्वानों का मत है कि 25000 वर्ष पूर्व क्रो. मेगनाल् मानव गुफा में रहते थे एवं गुफा की दीवारों में चित्र बनाते थे। इस चित्र के माध्यम से ही लिपियों का प्रारम्भिक सूत्रपात हुआ। 10,000 वर्ष पहले सभ्य मानव का विकास हुआ। एशिया के पश्चिमी तट पर ईसा पूर्व 2000 में 'सेमेटिक' भाषा परिवार की एक अक्षर मालात्मक लिपि उत्पन्न हुई जो कि प्राचीनतम लिपि है। 1000 वर्ष ईसा पूर्व में व्यंजनात्मक या वर्णमालात्मक लिपि रूप 'सेमेटिक लिपि' परिवर्तित हो जाती है। प्राचीन 'सुमेरी लिपि' परिवर्तित होकर ईसा पूर्व 800 में ब्राह्मी लिपि के रूप में परिवर्तित हुई। इस ब्राह्मी लिपि से ही पूर्ण भारतीय एवं तिब्बती सिंहली आदि लिपियाँ उत्पन्न हुईं। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार सर्वप्रथम चित्रलिपि हुई। उसके उपरान्त लिपि क्रम विकसित होकर भाव चित्रलिपि में परिणमन हुए। काल–क्रम से परिवर्तित संवर्द्धित होकर भाव चित्रलिपि ध्वनि संकेत रूप में परिणमन हो गई। अनेक काल परिवर्तन के बाद जो विशेष परिवर्तित रूप हुआ, वह अक्षरात्मक लिपि है। यह अक्षरात्मक लिपि ही सभ्य भाषा के लिए बीज स्वरूप है। समस्त साहित्यरूपी विशाल भवन इस अक्षरात्मक ईंट से निर्मित हुआ है। यह अकारात्मक लिपि ही संयुक्त होकर अन्तिम विकसित लिपि वर्णमालात्मक लिपि में परिवर्तित हो जाती है।

लिपि निर्माता– हिन्दू धर्म की अपेक्षा से 'ब्रह्मा' ब्राह्मी लिपि का निर्माता है। प्राचीन मिस्र की अपेक्षा 'थोत् देव' लिपि का निर्माता है। बेबीलोन की अपेक्षा 'नेवी देवता' लिपि का निर्माता है। प्राचीन यहूदी ग्रंथों की अपेक्षा पैगम्बर 'मूसा' लिपि ता निर्माता था। इस्लाम धर्म की अपेक्षा 'अल्लाह' ने लिपि निर्माण करके आदम को समर्पण किया था। यूनानी लोग 'हर्मेस' को लिपि का निर्माता मानते हैं। जैन धर्म की अपेक्षा आदिनाथ, आदिब्रह्मा, ऋषभदेव ने लिपि की शिक्षा पहले ब्राह्मी कुमारी को दी थी।

हीरागना जापानी लिपि का जनक बौद्ध भिक्षुक 'कोवो दैशी' कवि था। उसने 9वीं शताब्दी में इस लिपि का निर्माण किया था। इस लिपि में प्रथम 3 अक्षर इ–रो–हा होने से इस लिपि को 'इरोहा' अक्षरमाला कहते हैं। इस अक्षरमाला के ये सारे अक्षर अपुनरावृत्ति से रखने से बौद्ध दर्शन को प्रगट करते हैं, इसका अर्थ–

इस क्षणिक संसार में सभी कुछ अनित्य है।
इसके माया जाल तथा दिखावे से मैं बचना चाहता हूँ।

सिंहल में अशोक के ब्राह्मी लिपि का शिलालेख मिला है। आश्चर्य की बात यह है कि ब्राह्मी लिपि का प्रचार पश्चिम बोर्नियो तक हुआ है। पश्चिमी बोर्नियो में क्युअस नदी के किनारे सुंगेइते कार के पास के चश्मों के समीप एक चट्टान पर उत्कीर्ण मूर्तियों के पास सात अभिलेख मिले हैं।

अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्म कारणम्।
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते॥

उपरोक्त आधुनिक शोध से एवं प्राचीन साहित्यों के मंथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रचलित सम्पूर्ण वर्णमालात्मक लिपि में ब्राह्मी लिपि सबसे प्राचीनतम लिपि है। लिपि विद्या से ही मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता विशेष उन्नत हुई है।

आधुनिक गणितज्ञ एवं विद्वान् लोग मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि अनेक विद्याओं एवं गणित का प्रारम्भ सर्वप्रथम भारत में हुआ था। शून्य एवं 1, 2, 3 आदि 9 तक इकाई संख्याओं का आविष्कार भारत में हुआ था। इटली, ग्रीक आदि देशों में चित्र, संकेत लिपि में संख्या एवं गणित विद्या का प्रचलन था। भारतीय पद्धति के अनुसार जिस वृहत्तम संख्या को आधा लाइन में लिख सकते हैं उसको इटेलियन के अनुसार लिखने पर आठ–दस लाइन अथवा आधा–एक पृष्ठ लगेगा।

सर्वप्रथम वाग़मयारंभ एवं उसका स्वरूप

न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा।
ततो वाग़मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत्॥209॥

आ. पु. पर्व 16 पृ. 356

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उन पुत्रियों के लिये वाङ्मय का उपदेश दिया था।

सुमेधसावसंमोहादध्येषातां गुरोर्मुखात्।
वाग्देव्याविव निश्शेषं वाग़मयं ग्रन्थतोऽर्थतः॥220॥

अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओं ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ रूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था।

पदविद्यामधिच्छन्दोविचितिं वागलंकृत्तिम्।
त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः॥221॥

वाग़मय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाग़मय कहते हैं।

तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभूत् महत्।
यत्तत्परशताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत्॥222॥

उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेव का बनाया हुआ एक बहुत भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था।

छन्दोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत्।
उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदीदृशत्॥223॥

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे।

अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान् ने प्रस्तार, नष्ट, उदिष्ट, एकद्वित्रि–लघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग छन्दशास्त्र के छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया था।

भगवान् ने अलंकारों का संग्रह करते समय अथवा अलंकार संग्रह ग्रन्थ में उपमा, रूपक, यमक आदि अलंकारों का कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गों का विस्तार के साथ वर्णन किया था और माधुर्य ओज आदि दस प्राण अर्थात् गुणों का भी निरूपण किया था।

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों के पदज्ञान (व्याकरणज्ञान) रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें और कलायें अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गयीं थीं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने

के लिये पात्रता को प्राप्त हुई थीं। वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयी थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थीं।

सर्वप्रथम अर्थशास्त्र राजनीति आदि की शिक्षा

पुरुष शिक्षा

पुत्राणां च यथाम्नायं विनया दानपूर्णकम्।
शास्त्राणि ब्याजहारैवमा नुपूर्व्या जगद्गुरुः ॥128॥

जगद्गुरु भगवान वृषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये।

भरतायार्थं शास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम्।
अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥129॥

भगवान ने भरत पुत्र के लिये अत्यन्त विस्तृत बड़े-बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था।

विभुवृषभसेनाय गीतवाद्यर्थं संग्रहम्।
गंधर्व शास्त्र माचख्यौ यत्राध्यायाः परश्शतम् ॥120॥

स्वामी वृषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन के लिए जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं। ऐसे गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था।

अनन्तर्विजयायाख्यद् विद्याँ चित्रकलाश्रिताम्।
नानाध्यायाशताकीर्णां सकलाः कला ॥121॥

अनन्त विजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओं का निरूपण किया।

विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत्।
अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः ॥122॥

इसी अनन्तविजय पुत्र के लिये उन्होंने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था उसके अनेक भेद थे।

कामनीतिमय स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम्।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चारवेभगोचरम् ॥123॥
तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्यारब्यसूनवे।
व्याचरब्यौ बहुधाम्नातैर ध्यायैरतिविस्तृतैः ॥124॥

बाहुबली पुत्र के लिये उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े-बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाए।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यात्।
तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिषत् प्रजाः ॥125॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे भगवान आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।

जिस प्रकार स्वभाव से देदीप्यमान रहनेवाले सूर्य का तेज शरदऋतु के आने पर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएँ प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान ऋषभदेव का तेज उस समय बड़ा अद्भुत हो रहा था।

जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रों से भगवान् वृषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार की शरद्ऋतु में अधिक कांति को प्राप्त होने वाला सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होता है। इस कृति में प्राचीन भारत की विभिन्न कलाओं का वर्णन किया गया है। इस कृति से विज्ञ पाठकों को ज्ञात हो जायेगा कि भारत जैसे अध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न था उसी प्रकार विभिन्न कलाओं (ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, संगीत, नृत्य, शिल्पादि) से भी समुन्नत था। पुरूषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी विभिन्न कलाओं में निपुण थी।

– आचार्य कनकनन्दी

द्रव्यदाता – श्री गुणपाल जैन,
सहाय्यककर्ता – डॉ. शेखरचंद्र जैन,
मोडीलाल प्रजापत आदि को मेरा शुभाशीर्वाद।

विषय - सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	72 कलाओं के नाम तथा परिभाषा	1
2.	72 कलायें तथा 72 कलाप्रवीण कामध्वजा	9
3.	64 लिपियाँ	26
	(a) वर्णमाला का आध्यात्मिक रहस्य	26
	(b) प्राचीनकालीन अलंकार–आभूषण	28
	(c) अद्‌भुत रथसंचालन एवं गणित ज्ञान	32
4.	वाङ्मय (विभिन्न साहित्य)	36
5.	स्वर एवं रस	50
	(i) संगीत के 'सप्तस्वर'	50
	(ii) विभिन्न 'रस'	51
	(iii) आनन्द नाटक	54
6.	विभिन्न कला में निपुण 'केकया'	61

नृत्यकला, संगीतकला, नाटक कला, लिपि–कला, उक्ति कौशल कला, चित्र कला, पुस्तककर्म कला (खिलौना कला) माला निर्माण कला, गन्ध योजना कला, कुटीर शिल्प, गणित ज्ञान, विविध ज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, लोकज्ञता कला, संवाहन (मालिश) कला, वेष कौशल।

1 '७२' कलाओं के नाम तथा परिभाषा

(1) लिखित, (2) पठित, (3) गणित, (4) वैधके, (5) नृत्य, (6) वक्तव्य, (7) वाथा, (8) वचन, (9) नाटक, (10) अलंकार, (11) दर्शन, (12) ध्यान, (13) धर्मकथा, (14) अर्थकला, (15) काम, (16) वाटकला, (17) वृद्धिकला, (18) शोचकला, (19) व्यापार कला, (20) नेपथ्य कला (21) विलास, (22) नीति, (23) शकुन, (24) क्रीडन, (25) वितन्यात्, (26) हस्ततापं, (27) द्यूतकला, (28) कुसुमकला, (29) इन्द्रजाल, (30) विनयकला, (31) स्नेह, (32) पानक, (33) संयोग कला, (34) हास्य, (35) सौभाग्य (36) प्रयोग, (37) गन्धर्व, (38) वस्तु, (39) वाणिज्य, (40) रत्न, (41) पात्र, (42) देशक, (43) भाषक, (44) विधाक, (45) विनय, (46) अग्नु, (47) दाध, (48) समस्त, (49) वर्ण, (50) हस्थि, (51) अष्टक, (52) पुरुष, (53) नारी, (54) भोज्य, (55) पक्ष, (56) भूमि, (57) लेषं, (58) कष्ट, (59) वृष, (60) छद्म, (61) सद्म, (62) हरल, (63) उत्तर, (64) प्रतिउत्तर, (65) शरीर, (66) सत्त्व, (67) साध, (68) धैर्य, (69) पत्रच्छेद, (70) चित्र, (71) भाण, (72) इर्या।

प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार की कलाएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँची थीं। कलाओं का प्रचार–प्रसार शिक्षा आदि भारतवर्ष में प्राचीन काल में बहुत ही उन्नत प्रकार का होता था। विशेष करके बालिकाएँ, महिलायें, संगीत, चित्र नृत्य आदि कलाओं में विशेष रुचि लेती थी और पारंगत भी थीं। कुछ कुमारिकायें, युद्ध–विद्या, अस्त्र–शिक्षा, अश्वारोहण आदि कलाओं में भी दक्ष थीं। बालक, युवक, पुरुष लोग विशेष करके युद्ध विद्या, मल्ल–युद्ध, रथ–चालन, रत्न परीक्षा आदि के में दक्षता प्राप्ति के साथ–साथ नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओं में भी दक्षता प्राप्त करते थे। वर्तमान में प्राचीन सम्पूर्ण कलाओं का प्रचार–प्रसार शिक्षा आदि प्रभाव के साथ–साथ उनकी परिभाषा भी लोपप्रायः हो गयी है। इसीलिये उनकी परिभाषा प्राप्त करना भी कष्ट साध्य है। अतः मैं यहाँ पर कतिपय कलाओं के बारे में ही वर्णन करूँगा।

1. लिखित – भाषा को जिस माध्यम से अनेक प्रकार, फलक, पत्र, कागज

आदि में लिपिबद्ध किया जाता है उस कला को लिखित कला या लिपि कला कहते हैं। जो लिपि अपने देश में आमतौर से चलती है उसे अनुवृत कहते हैं। लोग अपने–अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं उसे विकृत कहते हैं। प्रत्यंग आदि वर्णों में जिसका प्रयोग होता है उसे सामायिक कहते हैं, और वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपि का ज्ञान किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं।

2. नृत्य– नृत्य के तीन भेद हैं तथा इसके अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं।

3. नाटक– गीत, नृत्य और वादित्र इन तीनों का एक साथ होना नाटक कहलाता है। शृंगार, हास्य, करुणा, वीर, अद्भुत, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त ये नौ रस होते हैं।

4. संगीत– जो कण्ठ, सिर और उरस्थल इन तीनों स्थानों से अभिव्यक्त होता था, तथा नीचे लिखे सात स्वरों में समवेत रहता है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद से सात स्वर कहलाते हैं। जो द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीनों लयों से सहित था तथा अस्र और चतुरस इन ताल की दो योनियों को धारण करता था। स्थायी, संचारी, आरोही और अवरोही इन चार प्रकार के पदों में स्थित था। प्रातिपादिक तिङन्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कार को प्राप्त संस्कृत प्राकृत और शौरसेनी यह तीन प्रकार की भाषा जिसमें स्थित थी। धवैती, आर्षभी, षड्ज–षड्जा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्ज कैकशी और षड्ज मध्यमा ये आठ जातियाँ हैं अथवा गान्धारोदीच्या, मध्यमपंचमी, गान्धार पञ्चमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यभोदीच्या, कर्माखी, नन्दिनी और कैशिक ये दस जातियाँ हैं। सो जो संगीत इन आठ अथवा दस जातियों से युक्त था। प्रसन्नादि प्रसन्नात, मध्य प्रसाद और प्रसन्नाधवसान ये चार स्थायी पद के अलंकार हैं। निर्वृत, प्रस्थित, बिन्दु प्रेखोलित, तार–मन्द्र और प्रसन्न ये छः संचारी पद के अलंकार हैं। आरोही पद का प्रसन्नादि नाम का एक ही अलंकार है और अवरोही पद के प्रसन्नात तथा कुहर ये दो अलंकार हैं। इस तरह तेरह अलंकार हैं सो इन सब लक्षणों से सहित उत्तम संगीत है।

5. वाद्य– तन्त्री अर्थात् वीणा से उत्पन्न होने वाले तत, मृदंग से उत्पन्न होने वाला अवनद्ध, बाँसुरी से उत्पन्न होने वाला शुषिर और ताल से उत्पन्न होने वाला घन ये चार प्रकार के वाद्य हैं। ये सभी वाद्य नाना भेदों से सहित हैं।

6. वक्तव्यकला– वक्तव्य नाम की कला है। इसका दूसरा नाम उक्ति कौशल

है। स्थान स्वर संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय विराम सामान्यनिहित, सामानार्थत्व और भाषा ये जातियाँ कही गयी हैं। इनमें से उरस्थल, कण्ठ और मूर्च्छा के भेद से स्थान तीन प्रकार का माना गया है। स्वर के षड्ज आदि सात भेद पहले कह ही आए हैं। लक्षण और उद्देश्य अथवा लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा संस्कार दो प्रकार का कहा गया है। पदवाक्य और महावाक्य आदि के विभाग सहित जो कथन है वह विन्यास कहलाता है। सापेक्ष और निरपेक्ष की अपेक्षा काकु दो भेदों से सहित है। गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू की अपेक्षा समुदाय तीन प्रकार का कहा गया है। किसी विषय का संक्षेप में उल्लेख करना विराम कहलाता है। एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना सामान्यभिहित कहा गया है। एक शब्द के द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन करना समानार्थता है। आर्य, लक्षण और म्लेच्छ के नियम से भाषा तीन प्रकार की कही गयी है। इनके सिवाय जिसका पद्य रूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं। ये सब जातियाँ कहलाती हैं। व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्ग व्यवहार ये मातृकायें कहलाती हैं। इन सब भेदों के भी अनेक भेद हैं जिसे विज्ञजन जानते हैं। इन सबसे सहित जो भाषण–चातुर्य है उसे वक्तव्यकला कहते हैं।

7. चित्रकला– नाना शुष्क और वर्जित क भेद से शुष्क चित्र दो प्रकार का कहा गया है तथा चन्दनादि के द्रव्य से उत्पन्न होने वाला आद्रचित्र अनेक प्रकार का है। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों के द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर इनकी रचना होती है। यह अनेक रंगों के सम्बन्ध से संयुक्त होता है।

8. पुस्तकर्म– क्षय, उपचय और सक्रम के भेद से पुस्तकर्म तीन प्रकार का होता है। लकड़ी आदि को छीलकर जो खिलौना आदि बनाया जाता है उसे क्षयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। ऊपर से मिट्टी आदि लगाकर जो खिलौने बनाये जाते हैं उसे उपचयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं तथा जो प्रतिबिम्ब अर्थात् साँचे आदि गढ़कर बनाए जाते हैं उसे संक्रमजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। यह पुस्तकर्म यन्त्र, निर्यन्त्र, सच्छिद्र तथा निश्छिद्र आदि के भेदों से सहित हैं अर्थात् कोई खिलौने यन्त्र चलित होते हैं और कोई बिना यन्त्र के होते हैं। कोई छिद्र सहित होते हैं कोई छिद्र रहित।

9. पत्रच्छेद– पत्रच्छेद के तीन भेद हैं– बुष्किम, छिन्न, अछिन्न। सूई अथवा दन्त आदि के द्वारा जो बनाया जाता है उसे बुष्किम कहते हैं। जो कैंची से काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के सम्बन्ध से युक्त होता है उसे छिन्न

कहते हैं। जो कैंची आदि से काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के सम्बन्ध से रहित होता है उसे अछिन्न कहते हैं। यह पत्रच्छेद किया पत्र, वस्त्र तथा सुवर्णादि के ऊपर की जाती हैं तथा स्थिर और चंचल दोनों प्रकार की होती है।

10. माला निर्माण की कला– आर्द्र, शुष्क, तदुन्मुक्त और मिश्र के भेद से माला निर्माण की कला चार प्रकार की है। इसमें से गीले अर्थात् ताजे पुष्पादि से जो माला बनायी जाती है उसे आर्द्र कहते हैं। सूखे पत्र आदि से जो माला बनायी जाती है उसे शुष्क कहते हैं। चावलों के सींक अथवा जवाँ से जो बनाई जाती है उसे तदुज्झित कहते हैं और जो उक्त तीनों चीजों के मेल से बनता है उसे मिश्र कहते हैं। यह माल्यकर्म रणप्रबोधन, व्यह–संयोग आदि भेदों से सहित होता है।

11. सुगन्धित पदार्थ निर्माणकला– योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना परिक्रम, गुण–दोष, विज्ञान तथा कौशल ये गन्ध योजना अर्थात् सुगन्धित पदार्थ निर्माणकला के अंग हैं। जिनसे सुगन्धित पदार्थ का निर्माण होता है ऐसे तगर आदि योनिद्रव्य हैं। जो धूपबत्ती आदि का आश्रय है उसे अधिष्ठान कहते हैं। कषायला, मधुर, चरपरा, कड़वा और खट्टा यह पाँच प्रकार का रस है। जिसका सुगन्धित द्रव्य में खासकर निश्चित करना पड़ता है। पदार्थों की जो शीतलता अथवा उष्णता है वह दो प्रकार का वीर्य है। अनुकूल–प्रतिकूल पदार्थों का मिलाना कल्पना है। तेल आदि पदार्थों का शोधना तथा धोना आदि परिकर्म कहलाता है। गुण अथवा दोष को जानना सो गुण–दोष विज्ञान है और परकीय तथा स्वकीय वस्तु की विशिष्टता जानना कौशल है। यह गन्ध योजना की कला स्वतन्त्र और अनुगत के भेद से सहित है।

12. रत्न– वज्र अर्थात् हीरा, मोती, वैडूर्य (नीलम), सुवर्ण, रजतायुध तथा वस्त्र–शंखादि रत्नों के लक्षण हैं।

13. आस्वाद्य विज्ञान– भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चुष्य के भेद से भोजन सम्बन्धी पदार्थों के पाँच भेद हैं। इनमें से जो स्वाद के लिये खाया जाये उसे भक्ष्य कहते हैं। यह कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो क्षुधा निवृत्ति के लिये खाया जाता है उसे भोज्य कहते हैं। इसके भी मुख्य और साधक की अपेक्षा दो भेद हैं– भोजन, रोटी आदि मुख्य भोज्य हैं, और लस्सी, दाल, शाक आदि साधक भोज्य हैं। शीतयोग (शर्बत) जल और मद्य (मधुर रस) के भेद से पेय तीन प्रकार का कहा गया है। इन सबका ज्ञान होना आस्वाद्य विज्ञान है।

14. वस्त्र रंगना– वस्त्र पर धागे से कढ़ाई का काम करना तथा वस्त्र को अनेक रंग विरंग से रंगित करना वस्त्र कला हैं।

15. शिल्प कला– लोहा, हाथी दाँत आदि लाख, क्षार, पत्थर तथा सूत आदि से विभिन्न प्रकार के सुन्दर उपकरणों का निर्माण करना शिल्प कला कहलाती है।

16. गणित कला– मेय, देश, तुला और काल के भेद से मान चार प्रकार का है। प्रस्थ आदि के भेद से मेय के अनेक भेद हैं। वितस्ति, हाथ (फीट, मीटर, गज आदि) देशमान हैं। पल, छटाँक, सेर, ग्राम, किलोग्राम, मन, टन आदि तुलामान हैं। समय, घड़ी, घण्टा, सेकिण्ड, मिनट, दिन, सप्ताह, महीना, वर्ष आदि कालमान हैं। वह मान आरोह, परीणाह तिर्यंक गौरव और क्रिया से उत्पन्न होता है। यह सब गणित कला में गर्भित है।

17. भूति कला– बेल बूटा खींचने की कला को भूतिकला कहते हैं।

18. निधि ज्ञान कला– गड़े हुए धन, दौलत, रुपया, चाँदी, रत्न आदि का ज्ञान कराना निधिज्ञान–कला है।

19. व्यापार कला– विभिन्न प्रकार के क्रय–विक्रय वाणिज्य आदि के ज्ञान को व्यापार कला कहते हैं।

20. जीव–विज्ञान कला– विभिन्न प्रकार के जीवों का शोध–बोध करना जीव विज्ञान कला है।

21. चिकित्सा–विज्ञान कला– मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की चिकित्सा को चिकित्सा विज्ञान कला कहते हैं।

22. विमोहन कला– विमोहन अर्थात् मूर्छा को विमोहन कला कहते हैं– (i) मायाकृत, (ii) पीड़ा अथवा इन्द्रजालकृत, (iii) मन्त्र तथा औषधि द्वारा विमोहन किया जाता है।

23. वादकला– मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी, अज्ञानी, स्वार्थान्ध द्वारा प्रतिपादित कल्पित मिथ्या मतों को तर्क, युक्ति द्वारा स्याद्वाद, अनेकान्त द्वारा निरसन करना वाद कला कहलाती है।

24. क्रीड़ा कला– चेष्टा, उपकरण, वाणी और कला व्यासंग के भेद से क्रीड़ा चार प्रकार की है। (१) शरीर से उत्पन्न होने वाली क्रीड़ा चेष्टा है। (२) गेंद आदि से खेलना उपकरण है। (३) नाना प्रकार के सुभाषित नीतिवाक्य आदि कहना वाणी क्रीड़ा है। (४) विनोद प्रिय क्रीड़ा करना कला–व्यासंग क्रीड़ा है।

25. लोकज्ञता कला– आश्रित और आश्रय के भेद से लोक दो प्रकार का है। जीव और अजीव आश्रित है तथा पृथ्वी आदि उसके आश्रय हैं। इस लोक में जीव की विभिन्न अवस्था, गति योनि में जन्म लेना, वृद्धि होना आदि लोकज्ञता कला है। विश्व के अन्तर्गत पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि को जानना भी लोकज्ञता कला हैं।

26. संवाहन कला– संवाहन कला दो प्रकार की है– एक कर्मसंश्रया और दूसरी शय्योपचारिका। (१) त्वचा, (२) माँस, (३) अस्थि, (४) मन। इन चारों को सुख पहुँचाने के कारण कर्मसंश्रया के चार भेद हैं–

(1) त्वचा संवाहन– जिस संवाहन से केवल त्वचा को सुख मिलता है उसे त्वचा संवाहन कहते हैं। इसको मृदु अथवा सुकुमार कहते हैं।

(2) माँस संवाहन– जिससे चर्म अथवा माँस को सुख प्राप्त होता है उसे माँस संवाहन कला कहते हैं। यह मध्यम कला है।

(3) अस्थि संवाहन कला– जिससे त्वचा माँस और अस्थि को सुख मिलता है उसको अस्थि संवाहन कला कहते हैं। यह प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) कहलाता है।

(4) मन संवाहन कला– स्पर्श, माँस, अस्थि के साथ–साथ सुमधुर संगीत से मन प्रसन्न हो जाना उसको मन संवाहन कला कहते हैं। इस संवाहन में निम्नलिखित दोष भी हैं– (1) शरीर के रोम को उद्धर्त्तन करना, जिन स्थानों में माँस नहीं है वहाँ अधिक दबाना, केशाकर्षण, अद्‌भूत भ्रष्ट प्राप्त, अमार्ग प्रयात, अतिभुग्नक अदेशाहत, अत्यर्थ और अवसुप्रप्रतीपक। जो इन दोषों से रहित है योग्य देश में प्रयुक्त है तथा अभिप्राय को जानकर किया गया है, ऐसा सुकुमार संवाहन अत्यन्त शोभास्पद होता है। जो संवाहन क्रिया अनेक कारण अर्थात् आसनों से की जाती है वह चित्त को सुख देने वाली शय्योपचारिका नामक क्रिया जाननी चाहिये। अंग प्रत्यंग से सम्बन्ध रखने वाली कला को मन संवाहन कला कहते हैं।

27. वेष कौशल कला– स्नान करना, सिर के बाल गूँथना तथा उन्हें सुगन्धित आदि करना यह शरीर संस्कार वेष–कौशल नाम की कला है।

28. पठित– विभिन्न भाषाओं में लिखित साहित्यों का अध्ययन करना पठित कला है।

29. वचन कला– विभिन्न भाषाओं के हितकर मनमोहक–प्रीतिकर वचन बोलना वचन कला है।

30. अलंकार कला– विभिन्न छन्द, राग–रागिनी से गाना (गीत) निर्माण करना अलंकार कला है अथवा विभिन्न प्रकार के हार, नुपुर, कुण्डल किरीट आदि बनाने को अलंकार कला भी कह सकते हैं अथवा सुन्दर रूप सजावट करना, अलंकृत करना आदि को अलंकार कला कहते हैं।

31. दर्शन कला– जैन, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, आस्तिक, नास्तिक प्राच्य, पाश्चात्य आदि दर्शन (तत्त्वज्ञान) को जानना दर्शन कला है।

32. ध्यान कला– शुभ ध्यान, शुक्ल ध्यान आदि को जानना ध्यान कला है।

33. धर्म कथा कला– जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि धर्म सम्बन्धी कथा को जानना धर्म कथा कला है।

34. अर्थ कला– मुद्रा का विनियोग यथार्थ रूप से करना अर्थ कला कहलाता है।

35. काम कला– यौवन क्रिया सम्बन्धी ज्ञान को काम कला कहते हैं।

36. वाट कला– रास्ता के गमनागमन सम्बन्धित ज्ञान को वाट कला कहते हैं।

37. विलास कला– विलास पूर्ण जीवन–यापन के ज्ञान को विलास कला कहते हैं।

38. नीति कला– विभिन्न प्रकार के नैतिक ज्ञान को नैतिक कला कहते हैं।

39. शकुन कला– आकाश, भूमि, अंगस्फुरन आदि से भूत, भविष्यत वर्तमान का ज्ञान करना शकुन कला है।

40. कुसुम कला– पुष्प की विभिन्न सुन्दर मालायें बनाने को कुसुम कला कहते हैं।

41. इन्द्रजाल कला– जादू विद्या के ज्ञान को इन्द्रजाल कला कहते हैं।

42. विनय कला– बड़े गुरुजन माता–पिता धर्मात्मा आदि का विनय करना विनय कला है।

43. स्नेह कला– दूसरों को प्रेम, प्रीति, आदर की दृष्टि से देखना स्नेह कला है।

44. पानक कला– विभिन्न प्रकार के सुस्वाद पेय वस्तु बनाने को पानक कला कहते हैं।

45. संयोग कला– विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का संयोग करके नवीन उपकरण तैयार करना संयोग कला है।

46. हास्य कला– हास्य रस के ज्ञान को हास्य कला कहते हैं।

47. प्रयोग कला– विभिन्न वस्तुओं के योग्य विनिमय को प्रयोग कला कहते हैं।

48. गंधर्व कला– नाच–गान संगीत आदि को गंधर्व कला कहते हैं।

49. पात्र कला– विभिन्न प्रकार के धातुओं से पात्र बनाना पात्र कला कहलाता है।

50. हस्ति कला– हाथी के गुण–दोष जानना तथा हाथी को शिक्षा देना हस्ति कला है।

51. पुरुष कला– पुरुष के गुण–दोष को जानना पुरुष कला है।

52. नारी कला– नारी के गुण–दोष को जानना नारी कला है।

53. भोज्य कला– विभिन्न खाद्य वस्तु तैयार करने के ज्ञान को भोज्य कला कहते हैं।

54. भूमि कला– भूमि के गुण–दोष को जानना भूमि कला है।

55. वृष कला– पौष्टिक, बलप्रद औषध, आहार आदि के ज्ञान को वृष कला कहते हैं।

56. उत्तर कला– विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना उत्तर कला है।

57. प्रत्युत्तर कला– प्रति प्रश्न का उत्तर देना प्रत्युत्तर कला है।

58. शरीर कला– शरीर के विभिन्न अंग–उपांगों के परिज्ञान को शरीर कला कहते हैं।

59. सत्त्व कला– स्वयं तेज, वीर्य, गम्भीर होना अथवा दूसरों के तेज, वीर्य आदि को जानना सत्त्व कला है।

60. धैर्य कला– संकट में भी भयभीत, उदास, निरूत्साह नहीं होना धैर्य कला है।

61. ईर्या कला– मार्ग को भली–भाँति निरीक्षण करते हुए जीवों को बिना बाधा किए गमनागमन करना ईर्या कला है।

62. अश्व कला– अश्व के विभिन्न गुण–दोष को जानना अश्व कला है।

सुन्दर मनोहर चातुर्यपूर्ण कार्य करने को भी कला कहते हैं।

जल– वाय्यग्नि संयोग निरोधैश्चः क्रिया कला।

जल, वायु और अग्नि के संयोग से उत्पन्न बाष्प के निरोध से अनेक क्रियाओं को करना 'कला' कहते हैं।

भोजदेव (वि.सं. 1066) कृत 'समराङ्गण सूत्रधार' के 31वें अध्याय का नाम ही 'यंत्र विधान' है। उस अध्याय में 223.5 श्लोक में विभिन्न यंत्रों के निर्माण विधान हैं।

2 '७२ कलाऐं : तथा ७२ कला प्रवीण काम ध्वजा'

सुहम्मे अणगारे जम्बू–अणगारं एवं वयासी–एवं खलु जम्बू! तेणंकालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं नगरे होत्था ऋद्धि.। तस्स णं वाणियग्गामस्स उत्तर–पुरत्थिमे दिसिभाए दूतिपलासे णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं दुइ–पालसे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था। तत्थ णं वाणियग्गामे मित्ते णामं राया होत्था। वण्णओ। तस्स णं मित्तस्स रण्णो सिरी णामं देवी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं वाणियग्गामे कामज्झया णामं गणिया होत्था अहीण. जाव सुरूवा। बावत्तरीकलापंडिया, चउसट्ठिगणियागुणेववेया, अगूणतीसविसेसे रममाणी, एक्कवीसरतिगुणप्पहाणा, बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिवोहिया, अट्ठारसदेसी–भासाविसारया, सिंगारागारचारूवेसा, गीयरति गंधव्वनट्टकुसला, संगतगत. सुन्दरत्थण. उसियज्झया सहस्सलंभा, विदिण्णछत्तचामखालवियाणिया, कणीरहप्पयाया वापि होत्था। बहूण गणियासहस्साणं आहेवच्चं जाव विहरति।

सुधर्मा अनगार ने जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहा कि– हे जम्बू ! इस काल तथा उस समय में वाणिजग्राम नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। उस नगर के ईशान कोण में दूतिपलाश नाम का एक उद्यान था। उस उद्यान में सुधर्मा नामक यक्ष का एक यक्षायतन था।

उस नगर में मित्र नाम का राजा और उसकी श्री नाम की रानी थी। तथा उस नगर में अन्यून पंचेन्द्रिय शरीर युक्त यावत् सुरूपा–रूपवती, 72 कलाओं में प्रवीण, गणिका के 64 गुणों से युक्त, 26 प्रकार के विशेषों–विषय के गुणों में रमण करने वाली, 21 प्रकार के रति गुणों में प्रधान, 32 पुरुष के उपचारों में निपुण, जिस के प्रसुप्त नव अंग जागे हुए हैं, 18 देशों की भाषा में विशारद, जिसकी सुन्दर वेष–भूषा शृंगार–रस का घर बनी हुई हैं एवं गीत, रति और गान्धर्व, नाट्य तथा नृत्य कला में प्रवीण सुन्दर गीत–गमन करनेवाली कुचादिगत सौन्दर्य से सुशोभित, गीत, नृत्य आदि कलाओं से सहस्र मुद्रा कमाने वाली, जिस के विलास भवन पर ऊँचे ध्वजा लहरा रही थी, जिसको राजा की ओर से पारितोषिक रूप में, छत्र तथा चामर–चँवर बाल्यवजनिका–चँवरी या छोटा पंखी,

मिली हुई थी और जो कर्णीरथ में गमनागमन किया करती थी, ऐसी काम–ध्वजा नाम की एक गणिका–वेश्या जो कि हजारों गणिकाओं पर आधिपत्य–स्वामित्व कर रही थी, वहाँ निवास किया करती थी।

लक्षण की अपेक्षा अहीन (समस्त लक्षणों से युक्त), स्वरूप की अपेक्षा परिपूर्ण (न अधिक ह्रस्व और न अधिक दीर्घ, न अधिक पीन और न अधिक कृश) अर्थात् अपने–अपने प्रमाण से विशिष्ट पाँचों इन्द्रियों से उसका शरीर सुशोभित था। हस्त की रेखा आदि चिन्ह रूप जो स्वस्तिक आदि होते हैं उन्हें लक्षण कहते हैं। मसा, तिल आदि जो शरीर में हुआ करते हैं, वे व्यञ्जन कहलाते हैं इन दोनों प्रकार के चिन्हों से यह गणिका सम्पन्न थी। जल से भरे कुण्ड में मनुष्य में प्रविष्ट होने पर जब उससे द्रोण (16 या 32 सेर) परिमित जल बाहिर निकलता है तब वह पुरुष मान वाला कहलाता है, यह मान शरीर की अवगाहना विशेष के रूप में ही प्रस्तुत प्रकरण में संगृहीत हुआ है। तराजू पर चढ़ाकर तौलने पर जो अर्ध–भार (परिमाण विशेष) प्रमाण होता है वह उन्मान है, अपनी अंगुलियों द्वारा एक सौ आठ अंगुलि परिमित जो ऊँचाई होती है वह प्रमाण है, अर्थात् उस गणिका के मस्तक से लेकर पैर तक के समस्त अवयव मान, उन्मान एवं प्रमाण से युक्त थे, तथा जिन अवयवों की जैसी सुन्दर रचना होनी चाहिये, वैसी ही उत्तम रचना से वे सम्पन्न थे। किसी भी अंग की रचना न्यूनाधिक नहीं थी। इसलिये उसका शरीर सर्वांग सुन्दर था। उसका आकार चन्द्र के समान सौम्य था। वह मन को हरण करने वाली होने से कमनीय थी। उसका दर्शन भी अन्तःकरण को हर्षजनक था इसलिये उसका रूप विशिष्ट शोभा से युक्त था।

काम ध्वजा गणिका– काम ध्वजा एक प्रतिष्ठित वेश्या थी। सूत्रगत वर्णन से प्रतीत होता है, कि वह रूप लावण्य में अद्वितीय, संगीत और नृत्यकला में पारंगत तथा राजमान्य थी। इससे यह निश्चित होता है कि वह कोई साधारण बाजारु स्त्री नहीं थी किन्तु एक कलाप्रदर्शक सुयोग्य व्यक्ति की तरह प्रतिष्ठा पूर्वक कलाकार स्त्री के रूप में अपना जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री थी। उसके अंगोपांग आदि में किसी प्रकार की न्यूनता या विकृति नहीं थी, उसका शरीर लक्षण, व्यंजनादि से युक्त, मानादि से पूर्ण और मनोहर था।

''बावत्तरी कलापंडिया–द्वासप्ततिकलापंडिता'' अर्थात् वह काम ध्वजा ७२ कलाओं में प्रवीण थी। कला का अर्थ है किसी कार्य को भली–भाँति करने का

कौशल। पुरुषों में कलायें ७२ होती हैं। इन कलाओं में से अब तक कई कलाओं का विकास हुआ है और कई एक का विनाश। इनमें कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें कई प्रकार के परिवर्तन और संशोधन हुए हैं। उन कलाओं के नाम ये हैं–

(1) लेखन कला– लिखने की कला का नाम है। इस कला के द्वारा मनुष्य अपने विचारों को बिना बोले दूसरों पर भली–भाँति प्रकट कर सकता हैं।

(2) गणित कला– इस कला से वस्तुओं की संख्या और उनके परिमाण या नाप तौल का उचित ज्ञान हो जाता हैं।

(3) रूपपरावर्तन कला– इस कला के द्वारा लेप्य, शिला, सुवर्ण, मणि, वस्त्र और चित्र आदि में यथेष्ठ रूप का निर्माण किया जा सकता है।

(4) नृत्य कला– इस कला में सुर, ताल आदि की गति के अनुसार अनेक विध नृत्य के प्रकार सिखाये जाते हैं।

(5 गीत कला– इस कला से ''किस समय कौन–सा स्वर आलापना चाहिये? अमुक स्वर के अमुक समय आलापने से क्या प्रभाव पड़ता है?'' इन समस्त विकल्पों का बोध हो जाता है।

(6) ताल कला– इस कला के द्वारा संगीत के सात स्वरों (1–षड्ज, 2–ऋषभ, 3–गान्धार, 4–मध्यम, 5–पंचम, 6–धैवत, 7–निषाद) के अनुसार अपने हाथ या पैरों की गति को ढोल, मृदंग या तबला पर या केवल ताली अथवा चुटकी बजाकर एवं जमीन पर पैर की डाट लगाकर साधा जाता है।

(7) वादित कला– इस कला से संगीत के स्वर भेद और ताल, लाग, डांट आदि की गति को निहार कर बाजा बजाना सीखा जाता है।

(8) बांसुरी बजाने की कला– इस कला से बाँसुरी और भेरी आदि को अनेकों प्रकार से बजाना सिखाया जाता है।

(9) नरलक्षण कला– इस कला से ''कौन मनुष्य किस प्रकृति वाला है? कौन मनुष्य किस पद और किस काम के लिये उपर्युक्त एवं अनुकूल है?'' इत्यादि बातें केवल मनुष्य के शरीर और रहन–सहन एवं उसके बोल–चाल, खान–पान आदि को देखकर जानी जा सकती हैं।

(10) नारी लक्षण कला– इस कला से नारियों की जातियाँ पहचानी जाती हैं और किस जाति वाली स्त्री का किस गुण वाले पुरुष के साथ सम्बन्ध होना चाहिये? जिससे उनकी गृहस्थ की गाड़ी सुखपूर्वक जीवन की सड़क पर चल

सके। इन समस्त बातों का ज्ञान होता है।

(11) गज लक्षण कला– इस कला से हाथियों की जाति का बोध होता है और अमुक रंग, रूप, आकार, प्रकार का हाथी किस के घर में आ जाने से वह दरिद्र से धनी या धनी से दरिद्र बन जायेगा, यह भी इसी कला से जाना जाता है।

(12) अश्व लक्षण कला– इस कला से घोड़ों की परीक्षा करनी सिखाई जाती है, और श्याम पैर या चारों पैर सफेद जिसके हों ऐसे घोड़ों का शुभ या अशुभ होना इस कला से जाना जा सकता है।

(13) दण्ड लक्षण कला– इस कला से किस परिमाण की लम्बी तथा मोटी लकड़ी रखनी चाहिये? राजाओं, मन्त्रियों के हाथों में कितना लम्बा और किस मोटाई का दण्ड होना चाहिये? दण्ड का उपयोग कहाँ करना चाहिये? इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है। इसके अतिक्ति इस प्रकार के कायदे कानूनों की शिक्षा का ज्ञान भी इस कला से प्राप्त किया जाता है।

(14) रत्न–परीक्षा कला– इस कला से– रत्नों की जाति का, उनके मूल्य का एवं रत्न अमुक पुरुष को अमुक समय धारण करना चाहिये, इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है।

(15) धातु वाद कला– इस कला से– धातुओं के खरा–खोटा होने की पहचान करना सिखाया जाता है। उनका घनत्व और आयतन निकालने की क्रिया का ज्ञान कराया जाता है। अमुक जमीन और अमुक जलवायु में अमुक–2 धातुऐं बहुतायत से बनती रहती हैं और मिलती हैं, इत्यादि अनेकों बातों का ज्ञान इस कला से प्राप्त किया जाता है।

(16) मंत्रवाद कला– इस कला से आठ सिद्धियाँ और नव निधियाँ आदि कैसे प्राप्त होती हैं? किस मन्त्र से किस देवता का आह्वान किया जाता है? कौन सा मन्त्र क्या फल देता है? इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(17) कवित्व शक्ति कला– इस कला से– कविता बनानी आती है तथा उसके स्वरूप का बोध होता है। कवि लोग जो 'गागर में सागर' को बन्द कर देते हैं, यह इसी कला के ज्ञान का प्रभाव है।

(18) तर्क–शास्त्र–कला– इस कला से– मनुष्य जगत के प्रत्येक कारण से उसके कारण का और किसी भी कारण से उस के कार्य को क्रम पूर्वक निकाल सकने का कौशल प्राप्त कर लेता है। इस कला से मनुष्य का मस्तिष्क बहुत विकसित

हो जाता है।

(19) नीति शास्त्र कला– इस कला से– मनुष्य सद्–असद् या खरे–खोटे के विवेक का एवं नीतियों का परिचय प्राप्त कर लेता है। नीति शब्द से राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, साधारण नीति और व्यवहार नीति आदि सम्पूर्ण नीतियों का ग्रहण हो जाता है।

(20) तत्व विचार–धर्मशास्त्र कला– इस कला से– धर्म और अधर्म क्या है? पुण्य–पाप में अन्तर क्या हैं? आत्मा कहाँ से आती हैं? और अन्त में उसे जाना कहाँ है? मोक्षसाधन के लिये मनुष्य को क्या–क्या करना चाहिये? इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है।

(21) ज्योतिष शास्त्र कला– इस कला से– ग्रह क्या है? उपग्रह किसे कहते हैं? ये कितने हैं? कहाँ है? और कैसे स्थित है? ग्रहण का क्या मतलब है? दिन–रात छोटे बड़े क्यों होते हैं? ऋतुयें क्यों बदलती हैं? सूर्य पृथ्वी से कितनी दूर है? गणित ज्योतिष और फलित–ज्योतिष में क्या अन्तर है? इत्यादि आकाश सम्बन्धित बातों का ज्ञान होता है।

(22) वैद्यकशास्त्र–कला – इस कला से– हमारे शरीर की भीतरी बनावट कैसी है? भोजन का रस कैसे और शरीर के कौन से भाग में तैयार होता है? हड्डियाँ कितनी हैं? उनके टूटने के कौन–कौन से कारण हैं? और कैसे उन्हें ठीक किया जाता है? ज्वरादि की उत्पत्ति एवं उसका उपशमन कैसे होता है? इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है।

(23) षड़ भाषा कला– इस कला से संस्कृत–शौरसेनी, मागधी प्राकृत, पैशाची और अपभ्रंश इन छः भाषाओं का ज्ञान उपलब्ध किया जाता है।

(24) योगाभ्यास कला– इस कला से– सांसारिक विषयों से मन हटाकर परमात्म–भाव की ओर लगाये रखने का ज्ञान कराया जाता है। इसके द्वारा 84 आसनों की साधना की जाती है। इस कला के द्वारा योग के आठों अंगों आदि की शिक्षा दी जाती है।

(25) रसायन कला– इस कला से– कई बहुमूल्य धातुयें जड़ीबूटियों के संयोग से तैयार की जाती हैं।

(26) अंजन–कला– इससे– नेत्र ज्योति में वृद्धि करने वाले तरह–तरह के अंजनों को तैयार करने की विधि सिखाई जाती है।

(27) स्वप्न शास्त्र कला– इस कला से– स्वप्न कब आते हैं ? इनका क्या स्वरूप है। कितने प्रकार के होते हैं ? मध्य रात्रि के पहले और पीछे आने वाले स्वप्नों में से किस का प्रभाव अधिक होता है। स्वप्न अच्छा है, या बुरा है ? यह कैसे जाना जा सकता है ? इत्यादि अनेकों प्रकार की बातों का बोध होता है।

(28) इन्द्रजाल कला– इस कला से– हाथ की सफाई के अनेकों काम सिखाना तथा दिखाना, किसी चीज के टुकड़े–टुकड़े करके पीछे उसे उसके पहिले के रूप में ला दिखाना, लौकिक दृष्टि में किसी पुरुष को निर्जीव बना करके, सबके देखते–देखते फिर से उसे सजीव बना देना, किसी की दृष्टि को ऐसा बांध देना कि उसे जो कहा जाये वही दिखे, किसी चीज को टुकड़े–२ करके मुख द्वारा खा जाना और फिर उसे उसके पूर्वरूप में ही नाक या बगल या कान की ओर से निकाल कर दिखाना, इत्यादि बातों की पूरी–2 शिक्षा दी जाती है।

(29) कृषि कर्म कला– इस कला से भूमि की प्रकृति कैसी होती है ? इस भूमि में कौन सी वस्तु अधिकता से उत्पन्न हो सकती है ?अमुक वस्तु या अनाज या वृक्ष, लतायें अमुक समय में लगाये जाने चाहिये। उन्हें अमुक–अमुक खाद देने से वे खूब फलते और फूलते हैं, खेती के लिये भिन्न–भिन्न प्रकार के किन–किन औजारों की आवश्यकता है ? इत्यादि बातों का सांगोपांग ज्ञान कृषक लोगों को कराया जाता है।

(30) वस्त्रविधि कला– इस कला के द्वारा वस्त्र किन–किन पदार्थों से बनाए जाते हैं ? उनकी उपज कहाँ, कब और कैसे, उत्तम से उत्तम रूप में की जा सकती है ? किस कपास के तन्तु जितने ही अधिक लम्बे अधिक निकलते हैं, वह कैसा होता है ? उत्तम या अधम कोटि के कपास, ऊन, टसर, रेशम या पश्न की क्या पहचान है ? इत्यादि बातों का पूरा–पूरा ज्ञान लोगों को कराया जाता है।

(31) द्यूत कला– द्यूतकला का शाब्दिक अर्थ है जूआ। जूआ भी प्राचीन काल में कलाओं में परिगणित होता था। इसका उद्देश्य केवल मनोविनोद रहता था। इसमें होने वाली हार–जीत शाब्दिक एवं मनोविनोद का एक प्रकार समझी जाती थी। मनोविनोद के साथ–साथ यह विजेता बनने के लिये बौद्धिक प्रगति का कारण भी बनता था। परन्तु ज्यों–ज्यों समय बीतता गया त्यों–त्यों इस कला का दुरुपयोग होने लगा। यह मात्र मनोविनोद की प्रक्रिया न रहकर जीवन के लिये अभिशाप का रूप धारण कर गयी। उसी का यह दुःखान्त परिमाण हुआ कि धर्मराज युधिष्ठिर

जैसे मेधावी व्यक्ति भी सती–शिरोमणी द्रौपदी जैसी आदर्श महिला को दाव पर लगा बैठे और अन्त में उन्हें वनों में जीवन की घड़ियाँ व्यतीत करनी पड़ी। नल ने भी इसी कला के दुरुपयोग से अपने साम्राज्य से हाथ धोया था। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। सारांश यह है कि पहले समय में इस कला को मनोविनोद का एक साधन समझा जाता था।

(32) व्यापार कला– इस कला द्वारा, विशेषरूपेण लेन–देन या खरीदने बेचने का काम करना सिखाया जाता है। व्यापार में सच्चाई और ईमानदारी की कितनी अधिक आवश्यकता है ? सम्पत्ति के बढ़ाने के प्रधान साधन कौन–कौन से हैं ? कल–कारखाने कहाँ डाले जाते हैं ? कौन सा व्यापार कहाँ पर सुविधापूर्वक हो सकता है ? इत्यादि बातों का भी इस कला द्वारा भान कराया जाता है।

(33) राजसेवा कला– इस कला द्वारा लोगों को राजसेवा का बोध कराया जाता है। राजा को राज्य की रक्षा और हर प्रकार की उन्नति के लिये केवल बंधे हुए टैक्स देकर ही अलग हो जाना राजसेवा ही नहीं है, परन्तु राज्य पर या राजा पर कोई मामला आ पड़ने पर तन से, मन से और धन से सहायता पहुँचाना और उसकी रक्षा के लिये अपना सर्वस्व भी लगाने में संकुचित न होने का नाम राज–सेवा है। इत्यादि बातें भी इस कला के द्वारा सिखाई जाती है।

(34) शकुन विचार कला– इस कला के द्वारा तरह–तरह के शकुन और अपशकुन को जानने की शक्ति मनुष्य में भली–भाँति आ जाती है। प्रत्येक काम को आरम्भ करते समय लोग शकुन को सोचने लगते हैं। पशु–पक्षियों की बोली से उनके चलते समय दाहिने या बायें आ पड़ने से किसी सधवा या विधवा के सम्मुख आ जाने से, इत्यादि कई बातों से शुभ या अशुभ शकुन की जानकारी इस कला के द्वारा हो जाती है।

(35) वायुस्तम्भमन कला– वायु को किसी तरह रोका जा सकता है ? उसका रुख मनचाही दिशा में किस प्रकार घुमाया जा सकता है ? रुकी हुई वायु के बल और तौल का अन्दाजा कैसे लगाया जाता है ? उसका कितना जबरदस्त बल होता है ? उससे कौन–कौन से काम किये जा सकते हैं ? इत्यादि आवश्यक और उपयोगी अनेकों बातें इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(36) अग्निस्तम्भन कला– धधकती हुई अग्नि बिना किसी वस्तु को हानि पहुँचाये वहीं–वहीं कैसे ठहराई जा सकती है ? चारों ओर से धकधक करती

हुई अग्नि में प्रवेश कर और मन चाहे उतने समय तक उसमें ठहर कर बाल-बाल सुरक्षित उससे कैसे निकला जा सकता है ? और आग के दहकते हुए अंगारों को हाथ या मुंह में कैसे रखा जा सकता है ? इत्यादि अनेकों हितकारी बातों का ज्ञान इस कला द्वारा प्राप्त किया जाता है।

(37) मेघवृष्टि कला– मेघ कितने प्रकार के होते हैं ? उनके बनने का समय कौन-सा है ? मूसलाधार वर्षा करने वाले मेघ कैसे रंग-रूप के होते हैं ? इन्द्र धनुष क्या है ? वर्षा के समय ही क्यों दिखाई देता है ? अलग-अलग प्रकार का क्यों होता है ? मध्याह्न में वह क्यों नहीं दिखता ? बिजली क्या है ? क्यों प्रकट होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा किया जाता है।

(38) विलेपन कला– विलेपन क्या है ? यह देश, काल और पात्र की प्रकृति को पहचान कर शरीर को ताजा निरोग सुगन्धित और यथोचित गर्म या ठण्डा रखने के लिये कैसे बनाया जाता है ? किन-किन पदार्थों से बनता है ? इसका उपयोग कब-कब करना चाहिये ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा होता है।

(39) मर्दन या घर्षण कला– धर्मार्थकाममोक्षाणां, शरीरं मूलसाधनम्– के नियमानुसार यदि शरीर ही ठीक नहीं तो सारा मानव जीवन ही किरकिरा है। शरीर का घर्षण करने से त्वचा के सब छिद्र कैसे खोले जा सकते हैं ? मर्दन करने की शास्त्रीय विधियाँ कौन-कौन सी हैं। तेल आदि का मर्दन मास में अधिक से अधिक कितनी बार करना चाहिये ? हाथ की रगड़ से शरीर में विद्युत का प्रवाह कैसे होने लगता है ? तेलादि का मर्दन अपने हाथ से करने में औरों की अपेक्षा क्या विशेषता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा हो जाता है।

(40) ऊर्ध्वगमन कला– बाष्प (भाप) कैसे पैदा किया जाता है ? उसकी शक्ति का असर क्या किसी खास तरफ ही पड़ सकता है ? या दाहिने-बायें, ऊपर-नीचे जिधर भी चाहें उससे काम ले सकते हैं ? उड़न-खटोले और अनेकों प्रकार के अन्य वायुयानों की रचना कैसे होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(41) सुवर्ण सिद्धि कला– इस कला के द्वारा खान से सोना निकालने के अतिरिक्त अन्य अमुक-अमुक पदार्थों के साथ-साथ अमुक-अमुक जड़ी-बूटियों के रस, अमुक-अमुक मात्रा में मिलाकर अमुक परिणाम की गर्मी के द्वारा उस घोल को फूंकने से सोना बनाने की विधि का ज्ञान प्राप्त होता है।

(42) रूपसिद्धि कला– अपने रूप को कैसे निखारना चाहिये ? इसके लिये शरीर के भीतर किन-किन पदार्थों को पहुँचना होता है ? और बाहर किन-किन विलेपनों का व्यवहार करना चाहिये ? ताकि चर्म में आभरण झुरियाँ न पड़ें, शरीर के डील-डौल को सुसंगठित बनाकर उसे सदा के लिये वैसा ही गठीला और चुस्त बनाये रखने के लिये प्रतिदिन किस प्रकार के व्यायाम करने चाहिये ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(43) घाटबन्धन कला– घाट, पुल, नदी नालों के बाँध आदि कैसे बनाये जाते हैं। कहाँ बन्धना इतना आवश्यक और टिकाऊ तथा कम खर्चीला होता है ? सड़कें, नालियाँ, मोरियाँ कहाँ और कैसे बनायी जानी चाहिये ? तरह-तरह के मकानों का निर्माण कैसे किया जाता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(44) पत्रछेदन कला– किसी भी वृक्ष के कितने ही ऊँचे या नीचे या मध्य भाग वाले किसी भी निर्धारित पत्र को उसके निश्चित स्थान पर किसी भी निशाने द्वारा किसी निर्धारित समय में केवल एक ही बार में बेधने का काम इस कला के द्वारा सिखाया जाता है।

(45) मर्मभेदन कला– इस कला के द्वारा शरीर के किसी खास और निश्चित भाग को किसी आयुध द्वारा छेदने का काम सिखाया जाता है।

(46) लोकाचार कला– लोकाचार-व्यवहार से अपना तथा संसार का उपकार कैसे होता है ? लोकाचार से भ्रष्ट होने पर मनुष्य का सारा ज्ञान व्यर्थ कैसे हो जाता है ? लोक-आचार को धर्म की जड़ कहते हैं सो कैसे ? आचार से दीर्घायु की प्राप्ति कैसे होती है ? सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और परमात्मा इत्यादि प्रकार के जो प्राणी संसार में पाये जाते हैं, इनमें से प्रत्येक के साथ किस प्रकार का यथोचित आचार-व्यवहार किया जायें ये सब बातें इस कला द्वारा जानी जाती हैं।

(47) लोकरञ्जन कला– इस कला के द्वारा पुरुषों को भाँति-२ से लोकरञ्जन करने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। उदाहरण के लिये-कोई आदमी लोकरञ्जनार्थ इस प्रकार कई तरह से हंसता या रोता है कि दर्शकों को तो वह हंसता या रोता हुआ नजर आता है, पर सचमुचमें वह न तो आप हंसता ही है और न रोता ही है।

(48) फलाकर्षण कला– फलों का आकर्षक ऊपर, दाहिने या बायें न होते हुए पृथ्वी की ओर ही क्यों होता है ? प्रत्येक पदार्थ पृथ्वी से ऊपर की ओर चाहे

फैंका जाये या कोई अपनी मर्जी से कितना ही ऊपर क्यों न उड़ जाये, तब भी अन्त में उसे पृथ्वी पर ही गिरना पड़ता है या उस की ओर आना पड़ता है, यह क्यों होता है? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(49) अफल–अफलन कला– जो चीजें वास्तव में फलवान् होने की योग्यता रखते हुए भी फलती नहीं हैं, मुख्यतः दो भागों में विभाजित की जाती हैं।–एक तो स्थावर, जैसे वृक्ष लतायें आदि और दूसरी जंगम वस्तुयें, जो चलती फिरती हैं। जैसे–मनुष्य या पशु आदि। कोई वृक्ष या लता फलती नहीं है तो क्या कारण है? कौन–सा खाद उसे पहुँचाया जाय तो वह फिर से फलवान हो जाये या उसमें कोई कीड़ा आदि न लग पाये? इसी प्रकार पुरुषों के सन्तान नहीं होती है तो इसका मूल कारण क्या है? क्या पुरुष की जननेन्द्रिय किसी दोष से दूषित है? या पुरुष का वीर्य सन्तानोत्पादन करने में अशक्त है! अथवा स्त्री का ही रज किसी विशेष दोष से सन्तानोत्पादन करने में असमर्थ हैं। इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा किया जाता है।

(50) धार–बन्धन–कला– छुरे, भाले, तलवार आदि शस्त्रों की पैनी से पैनी धार को मन्त्र, तन्त्र या आत्मबल आदि किसी अन्य साधन द्वारा निष्फल बनाकर उस पर दौड़ते–दौड़ते चले जाना या इन शस्त्रों के द्वारा किसी पर प्रहार तो करना पर उसे तनिक भी चोट न पहुँचने देना अथवा बहते हुए पानी की धार को वहीं रोक देना अथवा धार को दो भागों में विभक्त करके मध्य में से मार्ग निकाल लेना, इत्यादि बातों की शिक्षा इस कला द्वारा दी जाती है।

(51) चित्र कला– लेखक, कवि जिन बातों को लिखकर बड़े–बड़े विशाल ग्रन्थ तैयार कर देते हैं और पढ़े लिखे लोगों का मनोरंजन करते हैं एवं जीवन का पाठ पढ़ाते हैं, परन्तु उन सभी लम्बी चौड़ी बातों को एक चित्रकार चित्र के द्वारा संसार के सन्मुख उपस्थित कर देता है, जिसको देखकर अनपढ़ लोग मनोरंजन कर लेते हैं एवं जिससे वे अपने को शिक्षित भी कर पाते हैं। इस कला में चित्र–निर्माण के सभी विकल्पों को सिखाया जाता है।

(52) ग्राम बसावन कला– ग्राम कैसे और कहाँ बसाये जाते हैं? पहाड़ों के ऊपर मरूभूमि में और दलदलों के पास ग्राम क्यों नहीं बसाये जाते? छोटी–छोटी पहाड़ियों और धारों की तलाइयाँ और मैदानों की भूमियाँ ही बस्तियों के लिये क्यों चुनी जाती हैं? कौन–सी बस्ती बड़ी और कौन सी छोटी बन जाती है?

इत्यादि बातों का बोध इस कला के द्वारा कराया जाता है।

(53) कटक उतारण कला– छावनियाँ कहाँ डाली जानी चाहियें? उनकी रचना कैसे करनी चाहिये? उनके रसद का प्रबन्ध कहाँ, कैसे और कितना रखना चाहिये? शत्रु से कैसे सुरक्षित रहा जा सकता है? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(54) शकट युद्ध कला– रथी का युद्ध रथी के साथ कैसे, कहाँ और कब तक होना चाहिये? रथी को कहाँ तक युद्ध–कला से परिचित होना चाहिये? रथ को किन–किन अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित रखना चाहिये? इत्यादि बातों की शिक्षा इस कला के द्वारा दी जाती है।

(55) गरूड़–युद्ध–कला – सेना की रचना आगे से छोटी, पतली और पीछे से क्रमशः मोटी क्यों रखनी चाहिये? सेना की ऐसी रचना करने से और शत्रुओं पर छापा मारने से क्या तात्कालिक प्रभाव रहता है? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(56) दृष्टि–युद्ध–कला– आँखों से आँखें मिलाकर पर पक्ष के लोगों को कैसे बलहीन एवं निकम्मा बनाया जा सकता है। इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(57) वाक्–युद्ध–कला– युक्तिवाद, तर्कवाद और बुद्धिवाद की सहायता से पर पक्ष के विषय का खण्डन करना और स्वपक्ष का मण्डन करना और भाँति–भाँति के सामान्य और गूढ़ विषयों पर शास्त्रार्थ करना, इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता हैं।

(58) मुष्टि–युद्ध–कला– हाथों को बाँधकर मुष्टि बनाकर और उनके द्वारा नाना प्रकार से विधि पूर्वक घूंसामारी खेल कर पर पक्ष को पराजित करना, इत्यादि बातें इस कला के द्वारा सिखायी जाती हैं।

(59) बाहु–युद्ध–कला– इसमें मुष्टि के स्थान पर भुजाओं से युद्ध करने की शिक्षा दी जाती है।

(60) दण्ड–युद्ध–कला– इस कला में दण्डों के द्वारा युद्ध करना सिखाया जाता है। कैसे और कितने लम्बे दण्ड होने चाहियें और किस ढंग से चलाये जाने चाहिये? ताकि शत्रु से अपने को सुरक्षित रखा जा सके। इत्यादि बातें भी इस कला से सिखायी जाती हैं।

(61) शास्त्र–युद्ध–कला– इस कला के द्वारा पठित शास्त्रीय ज्ञान को खण्डन मण्डन के रूप में बोलकर या लिख कर प्रकट करने की युक्तियाँ सिखायी जाती हैं।

(62) सर्प–मर्दन–कला– सर्प के काटे हुये की संजीवनी औषधियाँ कौन–कौन सी हैं ? वे कौन–सी जड़ी–बूटियाँ है जिनके सूँघने या सुँघा देने मात्र से भयंकर से भयंकर जहरीले सर्पों का विष दूर किया जा सकता है ? सर्पों को कील कर कैसे रखा जा सकता है ? इत्यादि बातें इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(63) भूतादि मर्दन–कला– भूतादि क्या है ? ये मुख्यतया कितने प्रकार के होते हैं ? इनमें निर्बल और सबल जातियों के कौन–से भूत होते हैं ? इन को वश में करने की क्या रीति होती है ? कौन–से मन्त्र तथा तन्त्रों के आगे इन की शक्तियाँ काम नहीं कर पाती ? उन्हें कैसे ? कहाँ और कब और कितने समय तक सिद्ध करना पड़ता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा सिखाया जाता है।

(64) मन्त्र विधि–कला– मन्त्रों के जप–जाप की कौन–सी विधि है ? कौन मन्त्र, कब, कहाँ, कैसे और कितने जप–जाप के पश्चात् सिद्ध होता है ? जाप से जब वे सिद्ध हो जाते हैं तब सम्पूर्ण ऐहिक इच्छाओं की पूर्ति कैसे होती है ? उनसे दैहिक, दैविक और भौतिक बाधायें निर्मूल कैसे की जाती हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(65) यन्त्रविधि–कला– मुख से मन्त्रों का उच्चारण करते हुए किसी धातु के पत्रों या भोज पत्र या साधारण कागज या दीवार आदि पर नियमित खाने बनाना और उनमें परिमित अंकों का भरना यन्त्र का लिखना कहलाता है। यह यन्त्र कब लिखे जाते हैं ? मनोरथों के भेद से ये मुख्यतया कितने प्रकार के होते हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा किया जाता है।

(66) तन्त्र विधि–कला– तरह–तरह के टोने करना, उतारे करना और विधान के साथ उन्हें बस्तियों के चौरास्तों पर रखना झूठी पतलों की भोजन के पश्चात् कील को खोलना, धान की मुट्ठी आदि उतार कर किसी के सिरहाने रखना आदि–आदि कामों की विधियाँ इस कला के द्वारा लोगों को बतायी जाती हैं। कलाकारों का कहना है कि इस कला के द्वारा कई प्रकार की दैहिक, दैविक और भौतिक बाधायें आसानी के साथ निर्मूल की जा सकती हैं।

(67) रूप–पाक–विधि–कला– अपने रूप को निखारने के लिये ऋतु, काल, देश की प्रकृति और अपनी प्रकृति का मेल मिलाकर कौन–कौन से (पाकों का

सेवन करते रहना चाहिये) ? ये पाक कैसे–२ और कौन–कौन से पदार्थों के कितने–कितने परिणाम से बनते हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला से लोगों को कराया जाता है।

(68) सुवर्ण–पाक–विधि–कला– इस कला के द्वारा पुरुष को अनेक विधियों से नानाविध सुवर्ण के पाकों का निर्माण सिखाया करते थे। इसमें प्रथम विधिपूर्वक सोने को शोधना, फिर उस के नियमित परिणाम के साथ अन्यान्य आवश्यक पदार्थों तथा जड़ी बूटियों को मिलाकर पाक तैयार करना, तदनन्तर उसका विधि के अनुसार सेवन करना, इत्यादि बातें भी इस कला में बतायी जाती हैं।

(69) बन्धन–कला– किसी पर मन्त्र और दृष्टि आदि के बद्ध से ऐसा प्रभाव डालना कि जिससे वह औरों की निगाह में बद्ध प्रतीत न हो सके, परन्तु वह स्वयं को बद्ध समझता रहे। यही इस कला का उद्देश्य है।

(70) मारण–कला– केवल मन्त्रों की सिद्धि और दृष्टि बल के बिना किसी भी प्रकार का किसी पुरुष विशेष से युद्ध किये, यहाँ तक कि बिना उसे देखे भाले केवल उसका नाम और स्थान मालूम कर एवं बिना किसी भी प्रकार के शस्त्रों का उस पर प्रयोग किये, उसके सिर को धड़ से अलग कर देना या अन्य किसी भी प्रकार से उसे मार गिराना इस कला का काम है।

(71) स्तम्भन–कला– किसी व्यक्ति विशेष से अपने पराये किसी बैर का बदला लेने के लिये उसे किसी नियत काल तक के लिये स्तम्भित कर रखना इस कला से लोग जान पाते हैं।

(72) संजीवन–कला– किसी मृतप्राय या मृतक दिखने वाले व्यक्ति को जो अकाल में ही किसी कारण–विशेष से मृत्यु को प्राप्त होता दिखाई दे रहा हो, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि विधियों के बल या किसी भी प्रकार की संजीवनी जड़ी को उसके मृतप्रायः शरीर के स्पर्श करा कर उसे पुर्नजीवित कर देना इस कला द्वारा लोग जान पाते हैं।

शास्त्रों में 72 कलायें पुरुषों की मानी जाती हैं, किन्तु प्रकृत सूत्र में उन कलाओं का एक नारी में सूचित करने का अर्थ है कि उस नारी के महान् पांडित्य को अभिव्यक्त करना, और टीकाकार का कहना है कि प्रायः पुरुष ही इन कलाओं का अभ्यास करते हैं, स्त्रियाँ तो प्रायः इनका ज्ञान मात्र रख सकती हैं। **लेखाद्याः शकुनरुतपर्यन्ता गणित–प्रधाना कला प्रायः पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्याः, स्त्रीणां तु विज्ञेया**

एवं प्रायः इति।

चउसट्ठि–गणिया–गुणोववेया–चतुष्षष्टिगणिका–गुणोपेता–अर्थात् वह कामध्वजा गणिका, कामसूत्र वर्णित गणिका के ६४ गुण अपने में रखती थी। वात्स्यायन कामसूत्र में अष्टविध आलिंगन वर्णित हुए हैं, उन आठों में प्रत्येक के आठ–आठ भेद होने से64 भेद गणिका के गुण कहलाते हैं **।वात्स्यायनोक्तान्यालिंगनादीन्यष्टौ वस्तुनि तानि च प्रत्येकमष्टभेदत्वाच्चतुः षष्टिर्भवन्ति चतुःषष्ट्या गणिकागुणेरूपेता या सा तथेति वृत्तिकारः।**

''एगूणतीसविसेस रममाणी–एकोनत्रिंशद्विशेषयां रममाणा–'' यहाँ पठित जो विशेष पद है उसका अर्थ है– विषय अथवा विषय के गुण। विषय के गुए 29 होते हैं, इन में कामध्वजा गणिका रमण कर रही थी अर्थात् गणिका विषय के 29 गुणों से सम्पन्न थी।

''एक्कवीसरतिगुणप्पहाणा–एकविंशतिरतिगुणप्रधाना–''अर्थात् कामध्वजा गणिका 21 रतिगुणों में प्रधान–निपुण थी। मोहनीयकर्म की उस प्रकृति का नाम रति है जिसके उदय से भोग में अनुरक्ति उत्पन्न होती है, अथवा मैथुन क्रीड़ा का नाम भी रति है। रति के गुण (भेद) 21 होते हैं। उनमें यह गणिका निपुण थी।

''बत्तीस–पुरिसोवयर–कुसला–द्वाविंशत्–पुरुषोपचार–कुशला–'' अर्थात् पुरुषों के 32 उपचारों में वह कामध्वजा गणिका कुशल थी। उपचार का अर्थ होता है– आदर सत्कार अथवा सभ्योचित व्यवहार। इन उपचारों में वह गणिका सिद्धहस्त थी।

''नवंगसुत्तपडिबोहिया–प्रतिबोधितसुप्तनवागां–'' अर्थात् जगा लिये हैं सोये हुए नवांग जिसने, तात्पर्य यह है कि बाल्यकाल में सोये हुए नव अंग जिसके इस समय जागे हुए हैं। अथवा जिसके नेत्र प्रभूति नव अंग पूर्णरूप से जागृत हैं। इसका भावार्थ यह है कि मानवी व्यक्ति की बाल्य अवस्था में उसके दो कान दो नेत्र दो नासिका, एक जिह्वा, एक त्वचा और एक मन ये नौ अंग जागे हुए नहीं होते अर्थात् इनमें किसी प्रकार का विकार (कामचेष्टा) उत्पन्न हुआ नहीं होता ये उस समय निर्विकार–विकार से रहित होते हैं। यहाँ निर्विकार की सुप्त और विकृत की प्रबुद्ध–जागृत संज्ञा है। जिस समय युवावस्था का आगमन होता है, उस समय ये नौ ही अंग जाग उठते हैं, अर्थात् इनमें विकार उत्पन्न हो जाता है। इससे सूत्रकार ने उक्त विशेषण द्वारा कामध्वजा को नवयुवती प्रमाणित

किया है।

''अट्ठारस–देसीभासा–विसारया–अष्टादशदेशीभाषा–विशारदा–'' अर्थात् 1–चिलात (किरात–देश), 2–बर्बर (अनार्य देश विशेष), 3–बकुश (अनार्य देश विशेष), 4–यवन (अनार्य देश विशेष), 5–पहनव (अनार्य देश विशेष), 6–इसिन (अनार्य देश विशेष), 7–चारूकिनक, 8–लासक (अनार्य देश विशेष), 9–लकुश (अनार्य देश विशेष), 10–द्रविड़ (भारतीय देश), 11–सिंहल द्वीप (लंका द्वीप), 12– पुलिंद (अनार्य देश विशेष), 13– अरब (अरब देश), 14–पक्कण (अनार्य देश विशेष), 15–बहली (भारत वर्ष का एक उत्तरीय देश), 16–मुरुण्ड (अनार्य देश विशेष), 17–शबर (अनार्य देश विशेष), 18–पारस (फारस–ईरान) इन 18 देशों की भाषा–बोली से काम ध्वजा गणिका सुपरिचित थी। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गणिका जहाँ काम शास्त्र वर्णित विशेष रति गुण आदि में निपुणता लिये हुए थी वहाँ वह भाषा शास्त्र के वैदूष्य से भी परिपूर्ण थी, और असाधारण एवं सर्वतोमुखी मस्तिष्क की स्वामिनी थी।

'–सिंगारागारचारूवेसा–शृंङ्गारागाचारूवेषा–' अर्थात् उसका सुन्दर वेश शृङ्गार–रस का घर बना हुआ था। तात्पर्य यह है कि उस की वेशभूषा इतनी मनोहर थी कि उससे वह शङ्गार–रस की एक जीती–जागती मूर्ति प्रतीत होती थी।

''गीय–रति–गन्धव्व–नट्ट कुसला–गीत–रतिगान्धर्व–नाट्य–कुशला–'' अर्थात् वह गीत, रति, गान्धर्व और नाट्य आदि कलाओं में प्रवीण थी। तात्पर्य यह है कि वह ऊँचे दर्जे की कलाकार थी। गीत संगीत का ही दूसरा नाम है। रति–क्रीड़ा विशेष को कहते हैं। गान्धर्व–नृत्ययुक्त संगीत का नाम है, और केवल नृत्य की नाट्य संज्ञा है। [गान्धर्व नृत्युक्तगीतम्, नाट्यं तु नृत्यमेवेति वृत्तिकारः]

''–संगय–गय–भणिय–विहित–विलास सललिय–संलाव–निउण–जुत्तोवयार–कुसला–'' इति दृश्यम्, संततान्युचितानि गीतादीनि यस्याः सा तथा सललिता प्रसन्नतोपेता ये संलापास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ताः संगता ये उपचारा व्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः'' अर्थात् उस के गमन, वचन और विहित–चेष्टायें, समुचित थी, वह मन को लुभाने वाले संभाषण में निपुण थी, और व्यवहारज्ञ एवं व्यवहार कुशल थी।

''–सुन्दर त्थण–जहण–वयण–कर–चरण–नयण–लावण्ण–विलास–कलिया–'' इति व्यक्तम् नवरं जघनं पूर्वः कीटभागः लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता, विलासः स्त्रीणां

चेष्टा विशेषः'' अर्थात् उस के स्तन, जघन (कमर का अग्रभाग, बदन (मुख), कर (हाथ), चरण और नयन प्रभृति अंग प्रत्यंग बहुत सुन्दर थे और रूप वर्ण लावण्य (आकृति की सुन्दरता) हास तथा विलास (स्त्रियों की विशेष चेष्टा) बहुत मनोहर था।

''–ऊसियधया–उच्छितध्वजा–'' अर्थात कामध्वजा गणिका के विशाल भवन पर ध्वजा (छोटा ध्वज) फहराया करती थी। ध्वज किसी भी राष्ट्र की पुण्यमयी संस्कृति का एवं राष्ट्र के तथागत पुरुषों के अमर इतिहास का पावन प्रतीक हुआ करता है। ध्वज को किसी भी स्थान पर लगाने का अर्थ है– अपनी संस्कृति एवं अपने अतीत राष्ट्रीय पूर्वजों के प्रति अपना सम्मान प्रकट करना तथा अपने राष्ट्र के गौरवानुभाव का प्रदर्शन करना। ध्वज का सम्मान राष्ट्र के प्रत्येक निवासी का सम्मान होता है और उसका अपमान राष्ट्र के प्रक्येक निवासी के अपमान का संसूचक बनता है। इसी दृष्टि को सन्मुख रखते हुए राष्ट्रीय भावना के धनी लोग ध्वज को अपने मकानों पर लहरा कर अपने राष्ट्र के अतीत गौरव का प्रदर्शन करते हैं। सारांश यह है कि कामध्वजा गणिका का मानस राष्ट्रीय भावना से समलंकृत था, वह गणिका होते हुए भी अपने राष्ट्र की संस्कृति एवं उसके इतिहास के प्रति महान् सम्मान लिये हुए थी, और साथ में वह उसका प्रदर्शन भी कर रही थी।

''–सहस्सलंभा–सहस्रलाभा–'' अर्थात् वह काम–ध्वजा गणिका अपनी नृत्य, गीत आदि किसी भी कला के प्रदर्शन में हजार मुद्रा ग्रहण किया करती थी, अथवा सहवास के इच्छुक को एक सहस्र मुद्रा भेट करनी होती थी अर्थात् उसके शरीर आदि का आतिथ्य उसे ही प्राप्त होता था जो हजार मुद्रा अर्पण करे।

''–विदिण्ण–छत्त–चामरवालवियाणिया–वितीर्णछत्रचामर–बालव्जनिका–'' अर्थात् राजा की ओर से दिया गया है छत्र, चामर–चँवर और बालव्यजंनिका–चँवरी या छोटा पंखा जिसको ऐसी, अर्थात् कामध्वजा गणिकि की कलाओं से प्रसन्न होकर राजा ने उसे पारितोषिक के रूप में ये सम्मान–सूचक छत्र, चामरादि दिये हुए थे। इन विशेषणों से कामध्वजा के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वह कोई साधारण बाजार में बैठने वाली वेश्या नहीं थी अपितु प्रसिद्ध कलाकार तथा राजमान्य असाधारण गणिका थी।

''–कण्णरिहप्पयाया–कर्णीरथप्रयाता–''अर्थात् वह गणिका कर्णीरथ के द्वारा

आती जाती थी, अर्थात् उसके गमनागमन के लिये कर्णीरथ प्रधानरथ नियुक्त था। कर्णीरथ यह उस समय एक प्रकार का प्रधानरथ माना जाता था, जो प्रायः समृद्धशाली व्यक्तियों के पास होता था।

''–आहेवच्च–'' ति आधिपत्यम् अधिपतिकर्म, इह याक्करणा–दिदं दृश्म् ''पोरेवच्चं–'' पुरोवर्तित्वमग्रेसरत्वमित्यर्थः। ''–भट्टित्तं–'' भर्तृत्वं पोषकत्वम् ''–सामित्तं–'' स्वस्वामि–सम्बन्धमात्रम्, ''महत्तरगतं–'' महत्तरगत्वं शेष वेश्या–जनापेक्षा महात्तमताम् ''आणईसर–सेणावच्चं–'' आज्ञेश्वरः आज्ञा–प्रधानो यः सेनापतिः, सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यम्, ''–कारेमाण'' कारयन्ती परैः ''–पालेमाण–'' पालयन्ती स्वयमिति। अर्थात् वह गणिका हजारों गणिकाओं का आधिपत्य, और पुनरोवर्तित्व करती थी। तात्पर्य यह है कि उन सब में वह प्रधान और अग्रसर थी उनकी पोषिका–पालन पोषण करनेवाली थी। उनके साथ उनका सेविका और स्वामिनी जैसा सम्बन्ध था। सारांश यह है कि सहस्रों वेश्यायें उसका आज्ञा में रहती थीं और वह उनकी पूरी–पूरी देख–रेख रखती थी। संक्षेपमें कहें तो कामध्वजा वाणिजग्रामः नगर की सर्व–प्रधान राजमान्य और सुप्रसिद्ध कलाकार वेश्या थी।

इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र में कामध्वजा गणिका के संसारिक वैभव का वर्णन प्रस्तावित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि स्त्री–जाति की प्रवृत्ति प्रायः संसाराभिमुखी होती है, वह सांसारिक विषय–वासनाओं की पूर्ति के लिये विविध प्रकार के साधनों को एकत्रित करने में व्यस्त रहती है। परन्तु इसमें भी शंका नहीं की जा सकती कि जब उसकी यह प्रवृत्ति कभी सदाचाराभिगामिनी बन जाती है, उसकी हृदय–स्थली पर धार्मिक भावनाओं का स्त्रोत बहने जाता है तो वही स्त्री–जाति संसार के सामने एक ऐसा पुनीत आदर्श उपस्थित करती है, कि जिसमें संसार को एक नये ही स्वरूप में अपने आप को अवलोकन करने का पुनीत अवसर प्राप्त होता है। स्त्री–जाति उन रत्नों की खान है कि जिनका मूल्य संसार में आंका ही नहीं जा सकता। जिन महापुरुषों की चरण–रज से हमारी यह भारत–वसुन्धरा पुण्य भूमि कहलाने का गौरव प्राप्त करती है उन महापुरुषों को जन्म देने वाली यह स्त्री–जाति ही तो है। हमारे विचारानुसार तो संसार के उत्थान और पतन दोनों में हो स्त्री–जाति को प्राधान्य प्राप्त है।

– श्री विपाक सूत्र

६४ लिपियाँ

(1) ब्राह्मी, (2) खरोष्ठी, (3) पुष्करसारी, (4) अङ्गलिपि, (5) वङ्गलिपि, (6) मगधलिपि, (7) मङ्गल्यलिपि, (8) अङ्गलीयलिपि, (9) शकारलिपि, (10) ब्रह्मवलिलिपि, (11) पारूष्यलिपि, (12) द्राविड़लिपि, (13) किरातलिपि, (14) दाक्षिण्यलिपि, (15) उग्रलिपि, (16) संख्यालिपि, (17) अनुलोमलिपि (18) अवमूर्धलिपि (19) दरदलिपि, (20) खाष्यलिपि, (21) चीनलिपि, (22) लूनलिपि, (23) हूनलिपि, (24) मध्याक्षर विस्तरलिपि, (25) पुष्पलिपि, (26) देवलिपि, (27) नागलिपि, (28) यक्ष लिपि, (29) गन्धर्वलिपि, (30) किन्नरलिपि, (31) महोरगलिपि, (32) अनुसरलिपि, (33) अन्तरिक्षदेवलिपि, (34) मृगचक्रलिपि, (35) वायसरूतलिपि, (36) भौमदेवलिपि, (37) गरुड़लिपि, (38) उत्तरकुरद्वीपलिपि, (39) अपरगोदानीयलिपि, (40) पूर्वविदेह लिपि, (41) उत्क्षेपलिपि, (42) निक्षेपलिपि, (43) विक्षेपलिपि, (44) प्रक्षेपलिपि, (45) सागरलिपि, (46) वज्रलिपि, (47) लेखप्रतिलेखलिपि, (48) अनपद्रुतलिपि, (49) शास्त्रावर्तलिपि, (50) गणनावर्तलिपि=69क= लिपि, (51) उत्पेक्षावर्तलिपि, (52) निक्षेपावर्तलिपि, (53) पादवर्तलिपि, (54) द्विरूत्तरदसंधिलिपि यावद्दशोतत्तरपदसंधिलिपि, (55) अध्याहारिणीलिपि, (56) सर्वरूतसंग्रहलिपि, (57) विद्यानुलोभाविमिक्षितलिपि, (58) ऋषितपस्तप्ता=(ऋषियों के तप से तपी हुई लिपि) (59) रोचमाना=(देखने में सुन्दर लगने वाली लिपि) (60) धरणीप्रेक्षणीलिपि, (61) गगन-प्रेक्षणीलिपि, (62) सर्वोषधिनिष्यन्दा, (63) सर्वसारसंग्रहणीलिपि तथा (64) सर्वभूतरूपग्रहणीलिपि (नाम की) चौंसठ लिपियाँ होती हैं।

वर्णमाला का आध्यात्मिक रहस्य

दस हजार बालक बोधिसत्व के साथ लिपि की शिक्षा पाते थे। वहाँ बोधिसत्व के अधिष्ठान (संकल्प अथवा मंगल कामना) से मातृका (=वर्णमाला) वाँचते समय वे जब 'अ' पढ़ते थे, तब अनित्य हैं सब संस्कार ऐसा शब्द निकालता था। जब 'आ' पड़तेथे, तब आत्मपरहित शब्द निकलता था। 'इ' पढ़ने पर इन्द्रिय विकल शब्द, 'उ' पढ़ने पर उपद्रव की बहुतायत वाला जगत् ऐसा शब्द, ए, पढ़ने पर

एषणा (इच्छा) से दोष उपजते हैं ऐसा शब्द, 'ऐ' पढ़ने पर एर्यापथ (ईर्यापथ) श्रेयस्कर है ऐसा शब्द, ओ पढ़ने पर ओघ (संसार की बाढ़ से) उत्तर (पार होने) का शब्द, 'औ' पढ़ने पर औपपादुक दिव्य जन्मवाले प्राणी शब्द, 'अं' पढ़ने पर अमोघोत्पत्ति (सफलजन्म) शब्द तथा 'अः' पढ़ने पर अस्तगमन (पापों के अस्त हो जाने को) शब्द निकलता है। 'क' पढ़ने पर कर्मवि=१०० क=पाकावतर (अर्थात् कर्मफल में प्रवेश) का शब्द, 'ख' पढ़ने पर खसम (गगनतुल्य) हैं सब धर्म ऐसा शब्द, 'ग' पढ़ने पर गम्भीर धर्म (के) प्रतीत्यसमुत्पाद (में) अवतार (=प्रवेश) का शब्द, 'घ' पढ़ने पर घनपटल के समान अविद्या, मोह तथा अन्धकार के विध्वंस का शब्द, 'ङ' पढ़ने पर अङ्ग-विशुद्धि शब्द, 'च' पढ़ने पर चतुरार्य-सत्य शब्द, 'छ' पढ़ने पर छन्द (इच्छा) राग-प्रहाण शब्द, 'ज' पढ़ने पर जरामरण से अतिक्रमण (पार निकलने) का शब्द, 'झ' पढ़ने पर झषध्वज (अर्थात् काम)की सेना के निग्रह का शब्द, 'ञ' पढ़ने पर ज्ञानपन शब्द, 'ट' पढ़ने पर पट (=ज्ञानावरण) के उपच्छेद (नाश) का शब्द, 'ठ' पढ़ने पर उपनीय प्रश्न (=स्थापनीय प्रश्न अर्थात् व्याख्या के अयोग्य प्रश्न) शब्द, 'ड' पढ़ने पर डमर (दंगा वाले) मार के निग्रह के शब्द, 'ढ़' पढ़ने पर मीढ़विषय (मल के तुल्य विषय-भोग हैं ऐसा) के शब्द, 'ण' पढ़ने पर रेणु-(के समान आँखों में धूल झोंकने वाले) क्लेश (होते हैं ऐसा) शब्द, 'त' पढ़ने पर तथता असंभेद अर्थात् द्वैतभाव से अमिश्रित है ऐसा शब्द, 'थ' पढ़ने पर थाम (=स्थाम अर्थात् स्थिरता) - बल-वेग वैशारद्य (निर्मयता) शब्द, 'द' पढ़ने पर दान-दम-संयम-सौरभ्य (सौख्यवाकृपालुता) शब्द, 'ध' पढ़ने पर धन आर्यों का=१०० ख=स्त प्रकार का अर्थात् श्रद्धा, शील, ह्री (=आत्मलज्जा) अपत्राप्य (=लोकलज्जा) श्रुत, त्याग तथा प्रज्ञा रूपी सात प्रकार का होता है ऐसा शब्द, 'न' पढ़ने पर नाम (=चित्त तथा चैत धर्म) तथा रूप (भूत तथा भौतिक अर्थ) को परिज्ञा (= पूर्णज्ञता) का शब्द, 'प' पढ़ने पर परमार्थ शब्द, 'फ' पढ़ने पर फल-प्राप्ति की साक्षात् किया= (प्रत्यक्ष ज्ञान) का शब्द, 'ब' पढ़ने पर बन्धं मोक्ष शब्द, 'भ' पढ़ने पर भव (=उत्पाद) तथ (विभव)=(विनाश) का शब्द, 'म' पढ़ने पर मद तथा मान के उपशमन (शान्ति भाव) का शब्द, 'य' पढ़ने पर यथावत् धर्म के प्रतिरोध (अन्नः प्रवेश) का शब्द 'र' पढ़ने पर रति अरति-परमार्थरति शब्द, 'ल' पढ़ने पर लता (तृष्णा-रूपिणी वल्लरी) के छेदन का शब्द, 'व' पढ़ने पर वरयान वोधिसत्वयान वा महायान) शब्द, 'श' पढ़ने पर शमथ)

(=शान्त चित्तता) तथा विपश्यना (तत्वदर्शन) का शब्द, 'ष' पढ़ने पर षडायतन (पाँच इन्द्रियाँ तथा चित्त) के निग्रहण (=वशीकरण) तथा षड़भिज्ञाओं (अर्थात् दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत, परचिन्तज्ञान, पूर्वनिवासानु–स्मृति, ऋद्धि तथा आस्रव क्षय ज्ञान) की विद्या की प्राप्ति का शब्द, 'स' पढ़ने पर सर्वज्ञ (=बुद्ध) ज्ञान के अभिसम्बोधन–(समझने–बूझने) का शब्द, 'ह' पढ़ने पर हतक्लेश अर्थात् नष्ट हुए क्लेश वाले विराग का शब्द, तथा 'क्ष' पढ़ने पर क्षणपर्यन्त–क्षण अन्त को प्राप्त होने वाले सभी अभिलाष्य (=शब्द व्यवहार द्वारा प्रकाश्य) धर्म हुआ करते हैं ऐसा शब्द निकलता था। (ललित विस्तार पृ. २५१)

प्राचीन कालीन अलंकार आभूषण

पुण्य भूमि भारत वर्ष में अत्यन्त प्राचीन प्राग्–ऐतिहासिक काल में ऋषभ देव धर्म प्रचारक तीर्थंकर हुए थे। ऋषभदेव इस भारत वर्ष के सर्वप्रथम समाज व्यवस्थापक अनुशासक राजा थे। उन्होंने समाज को व्यवस्थित, सुसंगठित एवं उन्नतशील बनाने के लिए (1) असि, (2) मसि, (3) कृषि, (4) वाणिज्य, (5) शिल्प, (6) सेवा (नौकरी) का प्रचार–प्रसार किया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत आदि को लेकर सौ पुत्र एवं ब्राह्मी, सुन्दरी नामक दो कन्यायें थीं। वह प्रसिद्ध भरत था जो कि इस भारत वर्ष का आदि चक्रवर्ती हुआ, जिसके नाम पर इस क्षेत्र का नाम भारत वर्ष पड़ा। उस समय में जितनी शिल्प कला की उन्नति हुई थी एवं किस प्रकार विभिन्न सुन्दर आभूषणों का प्रचार–प्रसार समाज में था, उसका स्पष्ट प्रतिभास इन भरत आदि कुमारों के आभूषणों से होता है। उसका वर्णन निम्न प्रकार है–

निसर्गरुचिराण्येषां वपूँषि मणिभूषणैः।
भृशं रुरुचिरे पुष्पैर्वनानीव विकासिभिः ॥45॥

(आदि पु. भाद 1. पृ. 350)

उन राजकुमारों के स्वभाव से ही सुन्दर शरीर मणिमयी आभूषणों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि खिले हुए फूलों से वन सुशोभित रहते हैं।

तेषां विभूषणान्यासन् मुक्तारत्नमयानि वै।
यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावल्यश्च नैकधा ॥46॥

उन राजकुमारों के यष्टि, हार, और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नों के बने हुए अनेक प्रकार के आभूषण थे।

यष्टयः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकम्।
प्रकाण्डकं च तरलप्रबन्धश्चेति पञ्चधा ॥47॥

उनमें से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरल प्रबन्ध के भेद से पांच प्रकार का होता है।

केषांचिच्छीर्षकं यष्टिः केषांचिदुपशीर्षकम्।
अवघाटकमन्येषामपरेषां प्रकाण्डकम् ॥48॥

उन राजकुमारों में किन्हीं के शीर्षक, किन्हीं के उपशीर्षक, किन्हीं के अवघाटक, किन्हीं के प्रकाण्डक और किन्हीं के तरल प्रतिबन्ध नाम की यष्टि कण्ठ का आभूषण हुई थी।

तरलप्रतिबन्धश्च केषांचित् कण्ठ भूषणम्।
मणिमध्याश्च सुद्धाश्च तास्तेषां यष्ट्योऽभवन् ॥49॥

उनकी वे पाँचों प्रकार की यष्टियाँ मणि–मध्या और शुद्धा के भेद से दो–दो प्रकार की थी। जिसके बीच में एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीच में मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं।

सूत्रमेकावली सैव यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा।
रत्नावली भवेत् सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥50॥

मणि मध्यमा यष्टि को सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं और यदि यही मणि माध्यमा यष्टि सुवर्ण तथा मणियों से चित्र–विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं।

युक्तप्रमाण सौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः।
सान्तरं ग्रथिता भूषा भवेयुरपवर्तिका ॥51॥

जो यष्टि किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण मणि, माणिक्य, और मोतियों के द्वारा बीच में अन्तर दे–देकर गूंथी जाती हैं उसे अपवर्तिका कहते हैं।

यष्टिः शीर्षकसंज्ञा स्यात् मध्यैकस्थूलमौक्तिका।
मध्यैस्त्रभिः क्रमस्थूलैः मौक्तिकैरुपशीर्षकम् ॥52॥

जिसके बीच में एक बड़ा स्थूल मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं और जिसके बीच में क्रम–क्रम से बढ़ते हुये तीन मोती हों उसे उपशीर्षक कहते हैं।

प्रकाण्डकं क्रमस्थूलैः पञ्चभिर्मध्यमौक्तिकैः।
मध्यादनुक्रमाद्धीनैः मौक्तिकैरवघाटकम् ॥53॥

जिसके बीच–बीच में क्रम–क्रम से बढ़ते हुए पांच मोती लगे हों उसे प्रकाण्डक कहते हैं, जिसके बीच में एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम–क्रम से घटते हुए छोटे–छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक कहते हैं।

तरल प्रतिबन्धः स्यात् सर्वत्र सममौक्तिकैः।
तथैव मणियुक्तानामूह्या भेदास्त्रिधात्मनाम् ॥54॥

और जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों उसे तरल प्रतिबन्ध कहते हैं। ऊपर जो एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका ये मणियुक्त यष्टियों के तीन भेद कहे हैं उनके भी ऊपर लिखे अनुसार प्रत्येक के शीर्षक, उपशीर्षक आदि पांच–पांच भेद कहे हैं।

हारो यष्टिकलापः स्यात् स चैकादशधा मतः।
इन्द्रच्छन्दादिभेदेन यष्टि, संख्याविशेषतः ॥55॥

यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार कहते हैं वह हार लड़ियों की संख्याओं के न्यूनाधिक होने से इन्द्रच्छन्द आदि के भेद से ग्यारह प्रकार का होता है।

यष्टयोऽष्ट सहस्त्रं तु यत्रेन्द्रच्छन्दसंज्ञकः।
स हारः परमोदारः शक्र-चक्र जिनेशिनाम् ॥56॥

जिसमें एक हजार आठ लड़ियाँ हों उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते हैं। वह हार सबसे उत्कृष्ट होता है और इन्द्र, चक्रवर्ती तथा जिनेन्द्रदेव के पहनने के योग्य होता है।

तदर्द्धप्रमितो यस्तु विजयच्छन्दसंज्ञकः।
सोऽर्द्धचक्रधरस्योक्तो हारोऽन्येषु च केषुचित् ॥57॥

जिसमें इन्द्रच्छन्द हार से आधी अर्थात् पाँचसौ चार लड़ियाँ हों उसे विजयच्छन्द हार कहते हैं। यह हार अर्द्ध चक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि अन्य पुरुषों के पहनने योग्य कहा गया है।

शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीनां हार एव सः।
एकाशीत्या भवेद् देवच्छन्दो मौक्तिकयष्टिभिः ॥58॥

जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हों उसे हार कहते हैं और जिसमें मोतीयों की इक्यासी लड़ियाँ हो उसे देवच्छन्द कहते हैं।

चतुः षष्टयार्धहारः स्याच्चतुः पञ्चाशता पुनः।
भवेद् रश्मि कलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥59॥

जिसमें चौंसठ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें चौवन लड़ियाँ हों उसे

रश्मिकलाप और जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों उसे गुच्छ कहते हैं।

यष्टीनां सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका।
शोभां नक्षत्रमालाया या हसन्ती स्वमौक्तिकैः ॥60॥

जिसमें सत्ताईस लड़ियाँ हों उसे नक्षत्रमाला कहते हैं। यह हार अपने मोतियों से अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रों की माला की शोभा की हँसी करता हुआ–सा जान पड़ता है।

चतुर्विंशत्यार्द्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वय।
भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्द्धेनार्ध्वमाणवः ॥61॥

मोतियों की चौबीस लड़ियों के हार को अर्धगुच्छ, बीस लड़ियों के हार को माणव और दस लड़ियों के हार को अर्धमाणव कहते हैं।

इन्द्रच्छच्दादिहारास्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः।
माणवाख्या विभूषाः स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥62॥

ऊपर कहे हुये इन्द्रच्छन्द आदि हारों के मध्य में जब माणि लगा दिया जाता है तब उन नामों के साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है अर्थात् इन्द्रच्छन्दमाणव, विजयछन्दमाणव आदि कहलाने लगते हैं।

य एकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात्परः।
इन्द्रच्छन्दाद्युपपदः स चैकादशभेदभाक् ॥63॥

जो एक शीर्षक हार है वह शुद्ध हार है। यदि शीर्षक के आगे इन्द्रच्छन्द आदि उपपद भी लगा दिये जायें तो वह भी ग्यारह भेदों से युक्त हो जाता है।

तथोपशीर्षकादीनामपि शुद्धात्मनां भिदा।
तर्क्याः शुद्धास्ततो हाराः पंचपंचाशदेव हि ॥64॥

इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारों के भी ग्यारह–ग्यारह भेदे होते हैं। इस प्रकार सब हार पचपन प्रकार के होते हैं।

भवेत् फलकहाराख्यो मणिमध्योऽर्द्धमाण वे।
त्रिहेमफलकः पञ्चफलको वा यदा तदा ॥65॥
सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात् स मतोद्विधा।
सोपानाख्यस्तु फलकैरोक्मैरन्यः सरत्नकैः ॥66॥

अर्धमाणव हार के बीच में यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते

है। उसी फलकहार में जब सोने के तीन अथवा पाँच फलक लगें हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें सोने के पाँच फलक लगे हों उसे मणिसोपान कहते हैं। इन दोनों हारों में इतनी विशेषता है कि सोपान नामक हार में सिर्फ स्वर्ण के ही फलक रहते हैं और मणि सोपान नामक हार में रत्नों से जड़े हुये सुवर्ण के फलक रहते हैं।

इत्यमूनि युगारम्भे कण्ठोरोभूषणानि वै।
सष्टासृजत् स्वपुत्रेभ्यो यथास्वं ते च तान्यधुः॥67॥

इस प्रकार कर्म युग के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों के लिये कण्ठ और वक्षः स्थल के अनेक आभूषण बनाये, और उन पुत्रों ने भी यथा योग्य रूप से वे आभूषण धारण किये।

इत्याद्याभरणैः कण्ट्यैरन्यैश्चान्यत्रभाविभिः।
ते राजन्या व्यराजन्त ज्योतिर्गणमया इव॥68॥

इस तरह कण्ठ तथा शरीर के अन्य अवयवों में धारण किये हुये आभूषणों से वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानो ज्योतिषी देवों का समूह हो।

तेषु तेजस्विनां धुर्यो भरतोऽर्क इवाद्युतत्।
शशीव जगत कान्तो युवा बाहुबली बभौ॥69॥

उन सब राजकुमारों में तेजस्वियों से भी तेजस्वी भरत सूर्य के समान सुशोभित होता था और समस्त संसार में अत्यन्त सुन्दर युवा बाहुबली चन्द्रमा के समान शोभायमान होता था।

शेषाश्च ग्रहनक्षत्रतारागणनिभा बभुः।
ब्राह्मी दीप्तिरिवैतेषामभूज्ज्योत्स्नेव सुन्दरी॥70॥

शेष राजपुत्र ग्रह नक्षत्र तथा तारागण के समान शोभायमान होते थे उन सब राजपुत्रों में ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चाँदनी के समान सुशोभित थी।

सतैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् वृषभो बभौ।
ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरुर्महोदयः॥71॥

उन सब पुत्र–पुत्रियों से घिरे हुये सौभाग्य शाली भगवान् वृषभदेव ज्योतिषी देवों के समूह से घिरे हुये ऊँचे मेरू पर्वत की तरह सुशोभित होते थे।

अद्भुत रथ संचालक एवं गणितज्ञ 'नल'

राजा नल, छोटे भाई पुष्कर के साथ द्यूतक्रीड़ा करके सर्वस्व हार गये। राजा

नल एवं रानी दमयन्ती जब वन में थे तब एक दिन राजा नल दमयन्ती को छोड़कर अन्यत्र चल दिये। जब दमयन्ती को गुप्त रूप से कुछ ज्ञात हुआ कि नल ऋतुपर्ण के यहाँ बाहुक रूप में रह रहे हैं तब दमयन्ती, नल को प्राप्त करने के लिये सुदेव नामक ब्राह्मण को स्वयंवर का सन्देश देकर भेजते हुए बोली–

सुदेवजी ! आप इच्छानुसार चलने वाले द्रुतग्रामी पक्षी की भाँति शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरी में जाकर वहाँ के निवासी राजा ऋतुपर्ण से कहिये– भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। वहाँ बहुत से राजा और राजकुमार सब ओर से आ रहे हैं। उसके लिये समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। शत्रुदमन! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये। कल सूर्योदय होने के बाद वह दूसरे पति का वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है। दमयन्ती के इस प्रकार बताने पर सुदेव ब्राह्मण ने राजा ऋतुपर्ण के पास जाकर वही बात कही।

सुदेव की यह बात सुनकर राजा ऋतुपर्ण ने मधुर वाणी से सान्त्वना देते हुए बाहुक से कहा– बाहुक! तुम अश्वविद्या के तत्वज्ञ हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्ती के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए एक ही दिन में विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचना चाहता हूँ। राजा ऋतुपर्ण के ऐसा कहने पर राजा नल का मन अत्यन्त दुःख से विदीर्ण होने लगा। महामना नल बहुत देर तक किसी भारी चिन्ता में निमग्न हो गये। वे सोचने लगे– क्या दमयन्ती ऐसी बात कह सकती है? अथवा सम्भव है, दुःख से मोहित होकर वह ऐसा कार्य कर ले। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसने मेरी प्राप्ति के लिये यह महान् उपाय सोच निकाला हो? तदनन्तर बाहुक ने अश्वशाला में जाकर राजा ऋतुपर्ण की आज्ञा से अश्वों की परीक्षा ली। तब चतुर एवं कुशल राजा नल ने अच्छी जाति और उत्तम स्वभाव के चार वेगशाली घोड़ों को रथ में जोता।

जुते हुए रथ पर राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावली के साथ सवार हुए। इसलिये उनके चढ़ते ही वे उत्तम घोड़े घुटनों के बल पृथ्वी पर गिर पड़े। तब नरश्रेष्ठ श्रीमान् राजा नल ने तेज और बल से सम्पन्न उन घोड़ों को पुचकारा। फिर अपने हाथ में बागडोर ले उन्हें काबू में करके रथ को आगे बढ़ाने की इच्छा की। वार्ष्णेय सारथी को रथ पर बैठाकर अत्यन्त वेग का आश्रम ले उन्होंने रथ हाँक दिया। बाहुक के द्वारा विधिपूर्वक हाँके जाते हुए वे उत्तम अश्व रथी को मोहित से करते

हुए इतने तीव्र वेग से चले, मानो आकाश में उड़ रहे हों। उस प्रकार वायु के समान वेग से रथ का वहन करने वाले उन अश्वों को देखकर अयोध्या नरेश को बड़ा विस्मय हुआ। उसकी वह एकाग्रता, वह उत्साह, घोड़ों को काबू में रखने को वह कला और वह उत्तम प्रयत्न देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई।

जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं, उसी प्रकार बाहुक (बड़े वेग से) शीघ्रतापूर्वक कितनी ही नदियों, पर्वतों, वनों और सरोवरों को लाँघता हुआ आगे बढ़ने लगा। जब रथ इस प्रकार तीव्र गति से दौड़ रहा था, उसी समय शत्रुओं के नगरों को जीतने वाले राजा ऋतुपर्ण ने देखा, उनका उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर गया है। उस समय वस्त्र गिर जाने पर उन महामना नरेश ने बड़ी उतावली के साथ नल से कहा– महामते! इन वेगशाली घोड़ों को (थोड़ी देर के लिये) रोक लें। मैं अपनी गिरी हुई चादर लूँगा। जब तक यह वार्ष्णेय उतरकर मेरे उत्तरीय वस्त्र को ला दे, तब तक रथ को रोके रहो। यह सुनकर नल ने उसे उत्तर दिया– महाराज! आपका वस्त्र बहुत दूर गिरा है। मैं उस स्थान से चार कोस आगे आ गया हूँ। अब फिर वह नहीं लाया जा सकता। नल के ऐसा कहने पर राजा ऋतुपर्ण चुप हो गये। अब वे एक वन में एक बहेड़े के वृक्ष के पास आ पहुँचे, जिसमें बहुत से फल लगे थे। उस वृक्ष को देखकर राजा ऋतुपर्ण ने तुरन्त ही बाहुक से कहा– सूत! तुम देखो, मुझमें भी गणना करने (हिसाब लगाने) की कितनी अद्‌भुत शक्ति है। सब लोग सभी बातें नहीं जानते। संसार में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तथा एक ही पुरुष में सम्पूर्ण ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं है।

बाहुक ! इस वृक्ष पर जितने पत्ते और फल हैं, उन सबको मैं बताता हूँ। पेड़ के नीचे जो फल और पत्ते गिरे हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ से अधिक है, इसके सिवा एक पत्र तथा एक फल और भी अधिक है, अर्थात् नीचे गिरे हुए पत्तों और फलों की संख्या वृक्ष में लगे हुए पत्तों और फलों से एक सौ दो अधिक है। इस वृक्ष की दोनों शाखाओं में पाँच करोड़ पत्ते हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो इन दोनों शाखाओं तथा इसकी अन्य प्रशाखाओं (को काटकर उन) के पत्ते गिन लो। इसी प्रकार इन शाखाओं में दो हजार पञ्चानवे फल लगे हुए हैं। यह सुनकर बाहुक ने रथ खड़ा करके राजा से कहा– शत्रूसूदन नरेश! आप जो कह रहे हैं, वह संख्या परोक्ष है। मैं इस बहेड़े के वृक्ष को काटकर उसके फलों की संख्या को प्रत्यक्ष करूँगा। महाराज! आपकी अँखों के सामने इस बहेड़े को काटूँगा। इस

प्रकार गणना करने से वह संख्या परोक्ष नहीं रह जाएगी। बिना ऐसा किये मैं तो नहीं समझ सकता कि (फलों की) संख्या इतनी है या नहीं। यदि वार्ष्णेय दो घड़ी तक भी इन घोड़ों की लगाम सम्भाले तो मैं आपके देखते–देखते इसके फलों को गिन लूँगा।

तब राजा ने सारथि से कहा– यह विलम्ब करने का समय नहीं है। बाहुक बोला– मैं प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही गणना समाप्त कर दूँगा। आप दो घड़ी तक प्रतीक्षा कीजिये। अथवा यदि आपको बड़ी जल्दी हो तो यह विदर्भ देश का मङ्गलमय मार्ग है, वार्ष्णेय को सारथि बनाकर चले जाइये। तब ऋतुपर्ण ने उसे सांत्वना देते हुए कहा– बाहुक! तुम्हीं इन घोड़ों को हाँक सकते हो। इस कला में पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा दूसरा कोई नहीं है। घोड़ों के रहस्य को जानने वाले बाहुक ! तुम्हारे ही प्रयत्न से मैं विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचना चाहता हूँ। देखो, तुम्हारी शरण में आया हूँ। इस कार्य में विघ्न न डालो। यदि आज विदर्भदेश में पहुँचकर तुम मुझे सूर्य का दर्शन करा सको तो तुम जो कहोगे, तुम्हारी वही इच्छा पूर्ण करूँगा। यह सुनकर बाहुक ने कहा– मैं बहेड़े के फलों को गिनकर विदर्भ देश को चलूँगा। आप मेरी यह बात मान लीजिये। राजा ने मानो अनिच्छा से कहा– अच्छा, गिन लो। अश्वविद्या के तत्व को जानने वाले निष्पाप बाहुक! मेरे बताये अनुसार तुम शाखा के एक ही भाग को गिनो। इससे तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। बाहुक ने रथ से उतरकर तुरन्त ही उस वृक्ष को काट डाला।

गिनने से उसे उतने ही फल मिले, तब उसने विस्मित होकर राजा ऋतुपर्ण से कहा– राजन्! आप में गणित की यह अद्‌भुत शक्ति मैंने देखी है। नराधिप जिस विद्या से यह गिनती जान ली जाती है, मैं उसे सुनना चाहता हूँ। राजा तुरन्त जानने के लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने बाहुक से कहा– तुम मुझे द्यूत विद्या का मर्मज्ञ और गणित में अत्यन्त निपुण समझो। बाहुक ने कहा– पुरुष श्रेष्ठ! तुम यह विद्या मुझे बतला दो और बदले में मुझसे भी अश्व–विद्या का रहस्य ग्रहण कर लो। तब राजा ऋतुपर्ण ने कार्य की गुरुता और अश्वविज्ञान के लोभ से बाहुक को आश्वासन देते हुए कहा– तथास्तु। बाहुक! तुम मुझसे द्यूत–विद्या का गूढ़ रहस्य ग्रहण करो और अश्वविज्ञान को मेरे लिये अपने ही पास धरोहर के रूप में रहने दो। ऐसा कहकर ऋतुपर्ण ने नल को अपनी विद्या दे दी।

(महाभारत–2 पृष्ठ–1146–1151)

4 'वाङ्मय' (विभिन्न साहित्य)

ध्वनिर्वाणः पदं वाक्यमित्येत्तद्वाङ् मयं मतम्॥1॥

ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य यह इतना समस्त वाङ्मय माना गया है।

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।
योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमन्नादयो निजम्॥7॥

काव्य में विभिन्न अलङ्कारों की प्रभा चमकती रहती है और अनेक गुण जिसमें होते हैं तथा समस्त काव्यों के दोषों से रहित होता है, जो निर्वेद और लोक का ज्ञान तथा निजसिद्ध अन्नादिक का ज्ञान होता है।

देवीदीनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम्।
गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्॥8॥

देव आदि की भाषा तो संस्कृत होती है और अन्य लोगों की एवं स्त्रियों की प्राकृत भाषा काव्य आदि में हुआ करती है। ऐसे मनुष्यों को तीन प्रकार की गद्य, पद्य और मिश्रित (मिली हुई) भाषा हुआ करती है जो कि काव्य, नाटक आदि में होती है।

अपदः पदसंचानो गद्यं तदपि गद्यते।
चूर्णकोत्कलिकावृत्तसधिमेदात्त्रिरूपकम्॥9॥

सुप् तिङ् जिनके अन्त में होता है ऐसा ही पदों का समुदाय गद्य कहा जाता है। वह गद्य चूर्णक, उत्कलिका, वृत्त, सन्धि भेद से होने के कारण त्रिरूपक होता है।

अल्पाल्पविग्रहं नातिमृदुर्भनिर्भरम्।
चूर्णकं नामतो दीर्घसमासोत्कलिका भवेत्॥10॥

जिस गद्य में कम से कम विग्रह- हो और जो अत्यन्त मृदु सन्दर्भ से निर्भर न हो वह चूर्णक नाम वाला गद्य होता है। जिसमें दीर्घ समास होता है वह उत्कलिका नामक गद्य कहा जाता है।

भवेन्मध्यमसंदर्भ नातिकुत्सितविग्रहम्
वृत्तच्छायाहरं वृत्तसंधिनैतत्किलोत्कटम्॥11॥

जो मध्यम सन्दर्भ वाली होती है और जिसका अत्यन्त कुत्सित विग्रह नहीं होता है, वृत्त की छाया का हरण करने वाली वृत्त सन्धिगद्य हुआ करती है।

अति उत्कट नहीं होती है।

आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा॥12॥

आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा, कथानिकाये पाँच प्रकार का गद्यकाव्य होता है।

कर्तृ वंशप्रशंसा स्याद् यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरणसङ्ग्रामबिप्रलम्भविपत्तयः॥13॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा॥14॥
वक्त्र वाऽपरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति॥15॥
मुख्यस्याथवितारार्थ भवेद् यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लम्बकैः क्वचित्॥16॥
सा कथा नाम तद्गर्भे निवघ्नीयाच्चतुष्पदीम्।
भवेत्खण्डकथा याऽसौ कथा परिकथा तयो॥17॥

जहाँ गद्य के द्वारा कर्ता के वंश की प्रशंसा होती है, कन्या का हरण, संग्राम, विप्रलम्भ (जुदाई) विपत्ति आदि होते हैं, जहाँ पर रीति–वृत्ति की प्रवृत्तियाँ दीप्त होती हैं और उच्छ्वासों द्वारा परिच्छद जहाँ होता है, जो चूर्णकोत्तरा स्वयं मुख से कही जा सकती है उसे आख्यायिका कहते है। श्लोकों के द्वारा अपने वंश की संक्षेप से कवि जहाँ पर मुख्य अर्थ के अवतरण करने के लिए अन्य कोई कथा कहा करता है, जहाँ कोई परिच्छेद नहीं होता अथवा कहीं पद लम्बकों द्वारा परिच्छेद किया जावे वह कथा नामक गद्य काव्य होता है। उसके गर्भ में चतुष्पदी का निबन्धन करना चाहिए। उन दोनों की कथा और परिकथा की खण्ड कथा होती है।

अमात्यं सार्थकं वाऽपि द्विज वा नायक विदुः।
स्यात्तयोः करूणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः॥18॥

अमात्य सार्थक हो अथवा द्विज को नायक जानें। उन दोनों का करूण जानो। विप्रलम्भ इस तरह चार प्रकार का होता है।

समाप्यते तयोर्नाऽद्या सा कथामनुधावति।
कथाख्यायिकयोमिश्रभावात्परिकथा स्मृता ॥19॥

उन दोनों की आद्या समाप्त नहीं होती है और वह कथा अनुधावन किया करती है। इस तरह कथा और आख्यायिका इन दोनों का जो मिश्र भाव होता है वही परिकथा होती हैं।

भयानक सुखपर गर्भे च करूणो रसः।
अद्भुतोऽन्तेसुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका ॥20॥

भयानक और सुख परहो तथा गर्भ में करूण रस हो एवं अन्त में सुक्लृप्तार्थ हो अद्भुत रस हो वहाँ कथानिका उदात्ता नहीं होती है।

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृतं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्येयमुक्येयमुक्थं तत्कृतिशेजम् ॥21॥

वह पद्य चतुष्पदी होता है और वृत जाति का होता है इस प्रकार से दो प्रकार का होता है वृत्त अक्षर संख्येय अर्थात् अक्षरों की संख्या जिसमें की जाती है ऐसा और उक्थ तत्कृति शेषज है।

मात्राभिर्गणना यत्र सा जातिरति काश्यप।
सममर्धसमं वृत्तं विषमं पैङ्गलं त्रिधा ॥22॥

हे कश्यप! जहाँ पर मात्राओं के द्वारा गणना होती है। सम-विषम और अर्ध सम इस तरह से पिङ्गलाचार्य द्वारा किया हुआ वृत्त तीन प्रकार का होता है।

सा विद्या नौरस्तितीपूर्णा गभीरं काव्यसागरम्।
महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम् ॥23॥
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम्।
सर्गबन्धी महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥24॥
तादात्म्यमजहतत्र तत्समं नातिदुष्यति।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ॥25॥

वह विद्या गम्भीर काव्य सागर को तैर कर पार करने की इच्छा वालों के लिए नौका के समान है। महाकाव्य-कलाप-पर्याबन्ध-विशेषक-कुलकमुक्तक और कोष ये पद्यों का कुनवा होता है। सर्गो में बांधा हुआ महाकाव्य होता है जोकि संस्कृत के द्वारा आरम्भ किया गया हो। वहाँ पर तादात्म्य का त्याग किया

गया है। उसके सम अति दूषित नहीं होता है। यह किसी इतिहास की कथा से उद्भूत होता है अथवा अन्य सदाश्रय होता है।

महाकाव्य

सर्वरीतिरसै स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः।
अत एव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः ॥३२॥

समस्त प्रकार की रीति-रस्मों के द्वारा स्पृष्ट एवं गुणो के भूषण अर्थात् माधुर्यादि गुण और उपमादि अलङ्कारों से भूषित महाकाव्य हो। इसीलिए इसका नाम महाका य होता है और इसकी रचना करने वाला महाकवि कहलाता है।

वाग्वैदग्धयप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।
पृथक्प्रयत्नं निर्वर्त्य वाग्विक्रमाणि रसाद्वपुः ॥33॥
चतुवर्गफलं विश्वग्याख्यात नायकाख्यया।
समानवृतिनिर्व्यूदः कौशिकीवृतिकोमलः ॥34॥
कलापोऽत्र प्रबासः प्रागनुरागान्वयो रसः।
सविशेषकं प्राप्त्यादि संस्कृतेनेतरेण च ॥35॥

वाणी का कौशल इसमें अर्थात् महाकाव्य की रचना में प्रदान होता है तो भी इस काव्य का जीवित अर्थात् प्राण रस ही होता है। वाणी के पुरुषार्थ करने में कोई विशेष प्रयत्न करके रस से ही इसके कलेवर की पूर्ण रचना होती है। इसमें चारों वर्गो की सभी ने प्राप्ति बतलाई है जो कि एक नायक की आख्या होती है। समान वृत्ति से निर्व्यूढ़ (निर्वाह किया हुआ) तथा कौशकी वृत्ति से कोमल कलाप और इसमें प्रवास प्राक् अनुराग के नाम वाला होता है। सविशेषक प्राप्ति आदि संस्कृत तथा अन्य के द्वारा होती है।

कुलक एवं मुक्तक

श्लोकैरनेकैः कुलकं स्तात्संदानितकानि तत्।
मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ॥36॥

जहां अनेक श्लोकों के द्वारा अन्वय होने पर कुलक होता है। वह सान्दानातिक होते है। जो सत्पुरुषों के एक-एक ही श्लोक चमत्कार युक्त होते हैं वे मुक्तक कहे जाते है।

सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वित।
कोषो ब्रह्मपरिच्छिनः स विदग्धाय रोचते ॥37॥

सिंह के समान वीर कवियो की जो सुन्दर उक्तियाँ होती हैं उनसे युक्त कोष होता है वह ब्रह्म से अपरिच्छिन होता है और कुशल पुरुषों के लिए बहुत ही रुचिकर होता है।

आभासोपमशक्तिश्च सर्गेयद भिन्नवृत्तता।
मिश्रं वपुरिति ख्यात प्रकीर्णमिति च द्विधा ॥38॥

आभास और उपशम शक्ति होते हैं जबकि सर्ग में भिन्न वृत्त होते हैं! लहमिश्र वपु और प्रकीर्ण दो प्रकार से विख्यात है।

श्रवयं चैवाभिनेयं च प्रकीर्ण सकलोकिमः ॥39॥

काव्य श्रव्य और अभिनेय दो होते हैं जो समस्त उक्तियों से प्रकीर्ण होता है।

नाटक

नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा।
ज्ञेयं समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा ॥1॥
व्यायोगभाणवीथ्यङ्क त्रोटकान्यथ नाटिका।
सटटकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा ॥2॥
प्रस्थानं भाणिका जाणी गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदिनं नाट्य रासकं रासकं तथा ॥3॥
उल्लाधकं प्रेङक्षणं च सप्तविंषतिधैवतत।
सामान्य च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः ॥4॥

नाटक– सप्रकरण–डिम, ईहामृग जानना चाहिए तथा सम–वकार और प्रहसन होता है। व्यायोग–भाण–वीथ्यङ्क–त्रोटक होते हैं। अब नाटिका बतलाते हैं सहक–शिल्पक – कर्णाएक – दुर्मल्लिका – प्रस्थान– भाणिका – भाणी – गोष्ठी और हल्लीकश, काव्य–श्रीगदिन – नाट्य रासक – शसक उल्लाधक – प्रेक्षण ये सत्ताईस प्रकार के कुल होते हैं। सामान्य और विशेष यही दो प्रकार की लक्षण गति हुआ करती है।

सामान्य सर्वादिविषयं विशेषः क्वापि वर्तते।
पूर्वरङ्गे निवृत द्वौ देशकालावुमावपि ॥5॥

रसभावविभावानुभावा अभिनयास्तथा
अङ्क स्थितश्च सामान्यं सर्वत्रवोपसर्पणात् ॥6॥

सामान्य जो होता है वह सर्वविषयक होता है और विशेष कहीं पर हुआ करता है। पूर्व रङ्ग के निवृत्त होने पर दोनों देश और काल भी रस–भाव विभाव–अनुभाव तथा अभिनय होते हैं। अङ्क स्थित होता है यह सामान्य है जो कि सर्वत्र ही उपसर्पित होता है।

विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यये।
त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत् ॥7॥

विशेष जो होता है वह अवसर वाच्य होता है, सामान्य पूर्व में कहा जाता है। नाट्य को भी धर्म–अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का साधन बताया गया है जो कि करण है।

पूर्वरंग

इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि।
नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्गके ॥8॥

उस नाट्य की जो इति कर्तव्यता होती है वह यथाविधि पूर्व रङ्ग होता है। बत्तीस नान्दी मुख होते हैं जो कि पूर्व रङ्ग में है।

देवतानां नमस्कारो गुरुणामपि च स्तुतिः।
गौब्राह्माणनृपादीनामाशीर्वादादि मीयते ॥9॥

देवताओं को प्रमाण– गुरुवर्ग का स्तवन करना – गौ–ब्राह्मण और राज्य आदि का आशीर्वाद देना इसमें हुआ करता है।

नान्धन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निवध्यते।
गुरुपूर्वक्रमं वंशप्रशसा पौरुषं कवेः ॥10॥

नान्दी के अन्त में सूत्रधार रूपको में निवद्ध किया जाता है। गुरु पूर्व क्रम से वंश की प्रशंसा करना कवि का पौरुष होता है।

संवन्धादौ च काव्यस्य पच्चैतानेषु निर्दिशेत्।
नटी विदूषकोवाऽपि पारिपार्श्वक एव च ॥11॥
संहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते।
चित्रर्वाक्यैः स्वकार्यार्थे प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ॥12॥

आमुख्यं तत, विज्ञेयं बूधैः प्रस्तावनाऽपिसा।
प्रवृत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥13॥
आमुख्यस्य त्रयो भेदा बीजांशेषरजायते।
कालं प्रवृतीमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र पर्णयेत् ॥14॥
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्।
सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ॥15॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्धातः स उच्यते।
ततश्च प्रविशेत्यात्रं प्रयोगातिशयो हिःसः ॥16॥
शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रवक्षते ॥17॥

सम्बन्ध और अर्थ ये पांच इनमें निर्दिष्ट करने चाहिए। नटी–विदूषक पारिपार्श्वक जो कि सूत्रधार के सहित जहाँ पर संलाप किया करते हैं। अपने कार्य के लिए विचित्र वाक्यों के द्वारा परस्पर में प्रस्तुत कर आक्षेप करने वाले होते हैं। उसे आमुख्य कहते हैं। विद्वान लोग इसे प्रस्तावना भी कहा करते हैं। प्रवृत्तक–कथोद्घात और प्रयोगातिशय ये आमुख्य के तीन भेद हुआ करते हैं जो कि बीजांशों में उत्पन्न होते हैं। जहाँ पर सूत्रधार प्रवृत्त नकल का आश्रय लेकर वर्णन किया करता है। पात्र को उसका आश्रय वाला होने से ही प्रवेश तत्प्रवृत्तक होता है। सूत्रधार के वाक्य को अथवा जहां पर वाक्यार्थ को ग्रहण करके पात्र प्रवेश किया करता है वह कथोद्धात कहा जाता है। प्रयोगो से जहां पर सूत्रधार प्रयोग का वर्णन किया करता है और इसके पश्चात् पात्र का प्रवेश होता है वह प्रयोगतिशय नामक होता है। नाटक आदि का शरीर इति वृत्ति ही कहा जाता है।

सिद्धमत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदाबुभौ स्मृतौ।
सिद्धभागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रक्षितं कवे ॥18॥
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पंच्च पंच्च चेष्टा अपि क्रमात् ॥19॥

इसके भी सिद्ध और उत्प्रेक्षित दो भेद कहे गये हैं सिद्ध वह है जो अष्टक है और उत्प्रेक्षित कवि का सर्जन मात्र है। पांच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं जिनके नाम–बीज–बिन्दु–पताका–प्रकरी और कार्य ये हैं। इस प्रकार ये क्रम से पाँच चेष्टाएँ होती हैं।

प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सद्भाव एव च।
नियता च फलप्रातः फलयोगश्च पच्चमः ॥21॥

प्रारम्भ–प्रत्यन–प्राप्ति–सद्भाव, नियत फल प्राप्ति होती है और पांचवाँ फल योग है।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथेव च।
तथा निहरणं चेति क्रमात्पंच्चैव संधयः ॥21॥

पांच ही सन्धियाँ होती है जिनके नाम–मुख–प्रतिमुख–गर्भ–विमर्श–निहरण ये होते हैं।

अत्यल्पमात्र समुद्दिष्ट बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तद्भिधीयते ॥22॥
यत्र बीजसमुत्पत्तिननिर्थारससंभवा।
काश्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥23॥

जो समुदिष्ट तो अल्प मात्र हो और फिर विशेषता प्रसर्पण करता हो और जिसका अवसान फल पर्यन्त होता है वह बीज कहा जाता है। वहाँ पर बीज की उत्पत्ति अनेक अर्थ और रसों द्वारा हुई हो तथा काव्य में शरीर के अनुगत हो वह मुख सन्धि के नाम से कही गयी है।

इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्ति प्रयोगस्य गुह्नानां चैव गूहनम् ॥24॥
आश्चर्यवदमिख्यातं प्रकाशानां प्रकाशनम्।
अङ्गहीनो नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च ॥25॥

इष्ट अर्थ की रचना–वृत्तान्त का अनुपक्षय ही तथा प्रयोग की राग प्राप्ति एवं गुह्य वस्तुओं का गोपन किया जाता है आश्चर्य की भाँति कथन और प्रकाशों का प्रकाशन ही ये सब बातें जिस तरह अङ्गहीन मनुष्यों की होती हैं उसी तरह वह काव्य भी श्रेष्ठ नहीं होता है।

देशकालैर्पिना किंचिन्नेवृत्तं प्रवर्तते।
अतस्तयोरुपादानं नियमात्पदमुच्यते ॥26॥

देश और काल के बिना कोई भी इतिवृत्त प्रवृत नहीं हुआ करता है। अतएव उन दोनों का उपादान नियम से पद कहा जाता है।

देशेषु भारतं वर्ष काले कृतयुगप्रयम्।
नहि ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदय क्वचित् ॥27॥

देशमें भारतवर्ष और काल में कृतयुग आदि तीन युग हैं। उन दोनों से प्राणधारियों के सुख–दुःख का उदय कहीं हुआ करता है। सर्ग में सर्ग के आदि की वार्ता प्रसञ्जित होती हुई दोषयुक्त नहीं हुआ करती है।

नव रस

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥1॥

अक्षर परम ब्रह्म है। यह सनातन – अज – विभु होता है। वेदान्तों में इसे चैतन्य –ज्योति और एक ईश्वर कहते हैं।

आनन्द सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कारसाह्नवया ॥2॥

उसका वह सहज आनन्द किसी समय व्यञ्जित किया जाता है। उसकी वह व्यक्ति चैतन्य के चमत्कार के सदृश होती है।

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रदं समाप्त भुवनत्रयम् ॥3॥

उसका जो आद्य विकार होता है वह अहंकार नाम से कहा गया है। इसके पश्चात अभिमान होता है। उसमें यह भुवनत्रय समाप्त होता है।

अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यमिच्चार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते ॥4॥

अभिमान से परिपोष को प्राप्त होने वाली वह द्रुति व्यभिचारी आदि के सामान्य होने से शृंगार इस नाम से गाई जाती है।

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्ययेकशः।
स्वस्यस्थाविविशेषोऽथ परिधोषस्वलक्षणाः ॥5॥

उस रस के हास्य आदि अनेक अन्य भी भेद होते है। अपना स्थायी भावविशेष जब परिपोष को प्राप्त होता है तभी रस की निष्पति होती है यही उनका लक्षण है।

सत्वादिगुणसंतानाज्जायन्ते परमात्मनः।
रागाद्भवति शृंगारो रौद्र स्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥6॥

वीरोऽवषृम्भजः संकोचभूर्वीभत्स ईष्यते।
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रातुकरणो रसः ॥7॥
वीराश्चानभुतः निष्पतिः स्याद्बीमसाद्भयानक।
शृंगारहास्यकरूणा रौद्रवीरभयानकाः ॥8॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥9॥

सत्वादि गुणों के सन्तान से परमात्मा से ही ये उत्पन्न हुआ करते हैं, राग होने के कारण से शृंगार होता है। तीक्ष्णता होने से रौद्र उत्पन्न होता है। अवष्टम्भ से जन्म लेने वाला वीर रस होता है। संकोच से जन्म लेनेवाला बीभत्स रस हुआ करता है। शृंगार के हास होता है और रौद्र के करुण की उत्पत्ति हुआ करती है। वीररस से अद्भूत रस उत्पन्न होता है तथा वीभत्स से भयानक रस की निष्पति हुआ करती है। इस तरह शृंगार – हास्य – करुण – रौद्र – वीर– भयानक – वीभत्स और अद्भुत् तथा शान्त नाम वाले हैं। स्वभाव से होने वाले चार रस ही होते हैं। त्याग के बिना लक्ष्मी की भांति नीरसा वाणी शोभा नहीं दिया करती है।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिभष्यिन्ते च रसा इति ॥12॥

कोई भी रस भाव से हीन नहीं होता है और कोई भी भाव रस से वर्जित नहीं होता है इन भावों के द्वारा रस भावित करते हैं और रस इन्हें सुन्दर बनाया करते हैं।

स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिण।
मनोनुकूलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥13॥

स्थायीभाव आठ रसों के आठ हुआ करते हैं जिसमें रति नामक शृंगार का स्थायी भाव प्रधान होता है। स्तम्भ आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। मन के अनुकूल जो सुख को अनुभव होता है वही रति कहा जाता है।

हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते।
मनोवैक्लयमिच्छन्ति शोकमिषृक्षयादिभिः ॥14॥

हर्ष आदि के द्वारा जो मन का एक प्रकार का विकास होता है वही हास कहलाता है। अपने किसी अभीष्ट के क्षय आदि होने से मन का वैक्लव्य होता है उसी को शोक कहते हैं।

क्रोधस्तैदव्यं प्रबोधश्च प्रतिकुलानुकारिणी।
पुरुषानुसमोऽप्यर्थी यः स उत्साह उच्यते ॥15॥

तीक्ष्णता क्रोध है और प्रबोध प्रतिकूल के अनुकारी पुरुषानुसम जो अर्थ होता है वह ही उत्साह कहा जाता है।

चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैक्लव्यं ब्रुवते भयम्।
जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दा दौर्भाग्यवाहिनाम् ॥16॥
विस्मयोऽतिशयेनार्थदर्शनाच्चितविस्मृतिः।
अष्टौ स्तम्भादयः सत्वाद्रजसस्तमसः परम् ॥17॥

चित्र आदि के दर्शन से चित्त की विक्लपता होती है उसी को भय बोलते हैं। दौर्भाग्य को वहन करने वाले पदार्थों की जो निन्दा होती है वही जुगुप्सा है। अतिशय से अर्थ दर्शन से जो चित्त की विस्मृति हो जाती है उसे ही विस्मय कहते हैं। स्तम्भ आदि अष्ट सत्व से होते हैं। शेष रजोगुण और तमोगुण से व्यभिचारी हुआ करते हैं।

रसों के फल

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः।
श्रमरागाद्युपेतान्तः क्षोभजन्म वपुर्जलम् ॥18॥
स्वेदो हर्षादिभिर्देहोच्छ्वासोऽन्तः पुककोद्गमः।
हर्षादिजन्मवान्सङ्ग स्वरभेदो भयादिभिः ॥19॥

जो चेष्टा का प्रतिघात होता है वही स्तम्भ कहा जाता है और यह प्रतिघात भय तथा राग आदि से उपाहित हुआ करता है। श्रम और राग आदि से उपेत जो अन्दर क्षोभ है और उससे उत्पन्न होने वाले शरीर में जो जल के कण दिखाई दिया करते हैं उसी को स्वेद कहते हैं। हर्ष आदि के द्वारा देहोच्छ्वास होता है जो अन्दर पुलकोद्गम होता है। भय आदि के द्वारा हर्ष आदि के जन्म वाला संग स्वर भेद होता है।

चित्तक्षोभमवस्तम्भो वेपयुः परिकीर्तितः।
वैर्वण्यं च विपादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः ॥20॥

चित्त क्षोभ अवृस्तम्भ वेपथु कहा गया है। विष आदि से जन्म लेने वाला जो कान्ति का विपर्यय है वही वैर्वण्य कहा जाता है।

दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विश्रुतम्।
इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयोलङ्घनादिभि ॥21॥
वैराग्यदेर्मनः खेदो निर्वेद इति कथ्यते।
मन-पीड़ादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा ॥22॥

दुःख और आनन्द आदि से उत्पन्न होने वाला जो नेत्रों का जल है वही अश्रु नाम से प्रसिद्ध होता है। लंघन आदि के द्वारा जो इन्द्रियों का अस्त प्रायः हो जाता है वही प्रलय कहा जाता है। वैराग्य आदि से जो मन का खेद होता है उसको निर्विद कहते हैं। मन की पीड़ा आदि से जन्म लेने वाला जो अवसाद है वही शरीर में रहनेवाली ग्लानि होती है।

शङ्काऽनिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः।
मदिराद्युपयोगोत्थं मनः मोहनं मदः ॥23॥

अनिष्ट के होने की जो उत्प्रेक्षा होती है वही शङ्का होती है। मत्सरता को ही असूया कहते हैं। मदिरा आदि के उपयोग से उत्पन्न होने वाला जो मन का सम्मोहन होता है वही मद कहलाता है।

क्रियातिशयजन्माऽन्तः शरीरोष्यक्लमः श्रमः।
शृङ्गायदिक्रियाद्वेषश्चित्तस्याऽऽलस्यमुच्यते ॥24॥

क्रिया के अतिशय से उत्पन्न होने वाला शरीर में जो उत्क्लम होता है उसी को श्रम कहते हैं चित्त शृंगार आदि की क्रिया से जो द्वेष होता है उसी को आलस्य कहा जाता है।

दैन्यं सत्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम्।
इतिकर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते ॥25॥

सत्व से अपभ्रंश हो जाना ही दैन्य होता है। अर्थ की परिभावना करना चिन्ता कहलाती है। इति कर्तव्यता के उपायों का जो हीं दिखलाई देता है वह ही मोह कहा जाता है।

स्मृति स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।
मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्वज्ञानोपनायितः ॥26॥

किसी भी अनुभव में आई हुई वस्तु का जो चित्त में प्रतिबिम्बत हुआ करता है उसी को स्मृति कहा जाता है। तत्वज्ञान से उपनीत जो अर्थ का परिच्छेद होता

है वह मति कही जाती है।

ब्रीड़ानुरागादिभवः संकोच कोऽपि चेतसः।
भवेचचपलताऽथैर्य हर्षथि (श्च) त्तप्रसन्नता ॥27॥

अनुराग आदि से उत्पन्न होने वाला जो संकोच है वह पीड़ा होती है। यह संकोच चित्त के अन्दर होता है। स्थिरता का अभाव चपलता होती है। चित्त की प्रसन्नता को ही हर्ष कहते हैं।

आवेशश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः।
कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जड़तेत्यमिधीयते ॥28॥

प्रतीकार करने की आज्ञा से जो आत्मा का वैधुर्य होता है वही आवेश कहा जाता है। कर्तव्य करने में प्रतिभा का जो भ्रंश होता है उसी को जड़ता कहा जाता है।

इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाभ्युदयो धृतिः।
गर्वः परेष्ववज्ञाचमन्यरुत्कर्षभावना ॥29॥
भवे द्विषादोदै वादे विधातोऽमीष्टवस्तुनि।
औत्सुक्यमीप्सितताप्राप्तेवच्छिया तरला स्थिति ॥30॥
चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपस्मारोऽनवस्थितिः।
युद्धेव्याधादिमिस्त्रासो वीप्सा चित्तचमत्कृतिः ॥31॥

इष्ट प्राप्ति का उपचित जो सम्पदा का अभ्युदय है उसे धृति कहते हैं। दूसरों के विषय में अवज्ञा के भाव को ही गर्व कहते हैं। उत्कर्ष की भावना को मन्यु कहा जाता है। किसी अभीष्ट वस्तु में दवादि का विधान ही विषाद होता है। किसी ईप्सित अर्थ की प्राप्ति के कारण इच्छा से जो तरल स्थिति होती है उसी को औत्सुक्य कहते हैं। चित्त और इन्द्रियों का स्तैमित्य एवं अनवस्थिति का होना त्रास होता है। चित्त की चमत्कृति को वीप्सा कहते हैं।

क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः।
अवहित्थं भवेद् गुप्तिरङ्ग ताकारगोचरा ॥32॥

क्रोध का जो अप्रशम होता है उसे अमर्ष कहते हैं और चेतना का जो उदय होता है वही प्रबोध कहा जाता है। इङ्गित के आकार की गोचर गुप्ति को अवहित्था कहते हैं।

रोषतो गुरुवाग्दण्ड़पारुष्य विदुरुग्रताम्।
ऊहो वितर्क- स्याद्व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः ॥33॥

रोष से गुरु वाग् का दण्ड पारुष्य ही उग्रता कही जाती है। वितर्क को ऊह कहते हैं। मन और शरीर का जो उपग्रह होता है उसे व्याधि कहत हैं

अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः।
तत्वज्ञानादिना चेतः कषायोपरमः शमः ॥34॥

अनिवद्ध अर्थात सन्दर्भ विवर्जित जो प्रलाप आदि है उसे उन्माद कहते हैं जो कि मदन आदि के कारण से हुआ करता है। तत्वों के ज्ञान आदि से चित्त का कषाय द्वारा उपशम हो जाना ही शम कहलाता है।

गींगला चातुर्मास के मंगल कलश स्थापना का सौभाग्य (नईझर गींगला) निवासी श्री नवलचंदजी डालचंदजी जैन के परिवारने प्राप्त किया।

5 स्वर एवं रस

संगीत के सप्तस्वर

श्रुतिभाः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाय निषाद इति सप्त ते ॥1॥

सा. शा. 101

कानो में सुनाई देने वाले सात स्वर होते हैं जिनमें (1) षड्ज, (2) ऋषभ, (3) गान्धार, (4) मध्यम, (5) पञ्चम, (6) धैवत और (7) निषाद कहलाते है।

(1) षडज की व्याख्या करते हैं–

नासा कण्ठमुरस्तालु जिह्वा दन्तांश्च संस्पृशन्।
षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः

अर्थात् नाक, कण्ठ, वक्ष, स्थल, तालु, जिह्वा और दाँत इनके स्पर्श करता हुआ जो छहों से पैदा होता है उसे षडज कहते हैं।

(2) ऋषभ–

ऋषति बलीवर्दस्वरसादृश्यं गच्छतीति ऋषभः।

जो बैल के स्वर के समान हो उसे 'ऋषभ' कहते हैं।

(3) गान्धार–

गन्धारदेशे भवः गान्धारः।

जो गन्धार देश में हुआ है उसे गान्धार कहते हैं।

(4) मध्यम–

तद्वदेवोत्थितो वायुरुरः कण्ठसमाहतः।
नाभिं प्राप्तो महानादो मध्यस्थस्तेन मध्यमः॥

अर्थात् वायु वक्षः स्थल व कण्ठ से ताड़ित होता हुआ नाभि में पहुँचकर महानादवाला बीच में रहता है इसलिए मध्यम कहा जाता है।

(5) पञ्चम–

वायुः समुद्गतो नाभेरुरोहृत्कण्ठमूर्धसु।
विचरन्पञ्चमस्थानप्राप्त्या पञ्चम उच्यते॥

अर्थात् नाभि से उठा हुआ पवन, वक्षः स्थल, हृदय, कण्ठ और मस्तक में होता हुआ चलता है। इसलिए पाँच स्थानों की प्राप्ति से पञ्चम कहाता है।

(6) धैवत–

धीमतामयं धैवतः।

यानी धीमानों का जो यह शब्द है उसे धैवत कहते हैं।

(7) निषाद–

निषीदति मनो यस्मिन्निति निषादः।

अर्थात् जिसमें मन लगता है उसे 'निषाद' कहते हैं।

षड्ज रौति मधूरस्तु गावो नर्दन्ति वर्षभम्।
अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ॥2॥
पुष्पसाधारणे काने कोकिलो रौत पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः ॥3॥

मोर षड्ज स्वर से बोलता है। गौ ऋषभ स्वर से बोलती है। बकरी तथा भेड़ गन्धार स्वर को बोलती हैं। क्रोंच (कराकुलनामक) पक्षी मध्यम स्वर में बोलता है। पुष्पों के साधारण कान में कोकिला पञ्म स्वर बोलती है। घोड़ा धैवत स्वर और हाथी निषाद स्वर बोलता है।

विभिन्न 'रस'

रस, नायक, नायिका

अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः।
तत्त्वज्ञानादिना चेतः कषायोपरमः शमः ॥34॥

(अग्निपुराण पृ. 379)

अनिबद्ध अर्थात् सन्दर्भ विवर्जित जो प्रलाप आदि है उसे उन्माद कहते हैं जो कि मगन आदि के कारण से हुआ करता है तत्वों के ज्ञान आदि से चित्त का कषाय द्वारा उपशम हो जाना ही शम कहलाता है।

कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः।
विभाव्यते सि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ॥35॥
विभावो नाम स द्वेद्याऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः।
रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ॥36॥

आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभस्तथा।
धारोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धोरललितस्तथा ॥37॥
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः।
अनुकूलो दक्षिणश्च शढे धृष्टः प्रवर्तितः ॥38॥
धीर प्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायतः स्मृतः।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः ॥38॥
पठिमदा विटश्चैव विदूषक इति त्रयः।
शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः ॥39॥

कवियों के द्वारा योजनीय जो भाव होते हैं वे काव्य में रस कहे जाते हैं। इत्यादि जहाँ पर जिसके द्वारा विभावित होते हैं वे विभाव कहे जाते हैं वे विभाव आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार के कहे जाते हैं। रति आदि भावों का समुदाय जिसका आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं वहीं आलम्बन विभाव होता है जो कि नायक एवं नायिका आदि है। धीरोदात्त–धीरोद्धत–धीर ललित और धीर प्रशान्त ये चार प्रकार के नायक होते हैं। ये नायक फिर अनुकूल–दक्षिण–शठ और धृष्ट चार प्रकार का हुआ करता है। पीठ–मर्द–विट और विदूषक ये तीन होते हैं। ये तीनों शृंगार रस में नायक के नर्म सचिव तथा अनुनायक हुआ करते हैं।

पीठमर्दस्तु कलशः श्रीमांस्तद्देशजो विटः।
विदूषको वैहिसिकः सत्वष्ट नायकनायिकाः ॥40॥

पीठ मर्द कलश श्रीमान होता है और उस देश में उत्पन्न विट होता है। विदूषक जो होता है वह हास्य करने वाला होता है। इस प्रकार से कुल आठ नायक हुआ करते हैं। चार पहिले और तीन विदूषकादि हैं। आठ प्रकार की ही नायिका होती है।

आठ पौरूष-

स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः।
सामान्य न पुनर्भरि इत्याद्या बहुभेदतः ॥41॥

स्वकीया और परकीया और पुनर्भू यह कौशिक कहते हैं। जो सामान्य होती है वह पुनर्भू नहीं है– इत्यादि भेदों वाली नायिकाएँ होती हैं।

उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैविविधैः स्थिताः.
आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये ॥42॥

चतुःषष्टिकला द्वेधा कर्माद्येगीतिकादिभिः।
कुहकं स्मृतिरप्येषां प्रायो हासोपहारकः ॥43॥

उद्दीपन विभाव वे होते हैं जो कि विविध संस्कारों से स्थित हुआ करते हैं। आलम्बन विभावों में जो भावों को उद्दीप्त किया करते हैं वे चतुःषष्टि कला होते हैं। वे फिर कर्माद्योंसे और गीतकादि से दो प्रकार के होते हैं। कुहक और इनकी स्मृति भी प्रायः हास का उपकारक होता है।

आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः।
मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः ॥44॥
आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः।
स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते ॥45॥

आलम्बन विभाव के उरूद्ध संस्कार वाले भावों से मन–वाणी–बुद्धि और शरीर की इच्छा–द्वेष–स्मृति के प्रयत्न से जो आरम्भ होता है वही विद्वानों का अनुभव कहा गया है। यह यहाँ पर अनुभव किया जाता है अर्थात् अनुभूत होता है यही इसकी निरुक्ति की जाती है।

मनोव्यापारभूयिष्ठो मन आरम्भ उच्यते।
द्विविधः पौरुषः स्त्रैण ईहशोऽपि प्रसिध्यति ॥46॥
शोभा विलासो माधुर्य स्थैर्य गाम्भीर्यमेव च।
ललितं च तथौदार्य तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥47॥

मन के व्यापार की बहुलता वाला मन का आरम्भ कहा जाता है। दो प्रकार का स्त्रैण और पौरूष है ऐसा भी प्रसिद्ध होता है। शोभा–विलास–माधुर्य–स्थैर्य–गाम्भीर्य– ललित–औदर्य–तेज ये आठ प्रकार के पौरूष होते हैं।

बारह विभाव

नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्य दाक्ष्यादिकारणम्।
मनोधर्मे भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा ॥48॥
भावो हारश्च हेला च शोभा कान्तिस्तथैव च।
दीप्तिमाधुर्यशौर्ये च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥49॥
स्थैर्य गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः।
भावो विलासो हावः स्याद्भावः किचिच्च हर्षजः ॥50॥

नीच निन्दा–उत्तम स्पर्धा–शौर्य और दाक्ष्य आदि कारण हैं। मनोधर्म में शोभा होती है जिस प्रकार भवन शोभा देता है। भाव–हार–हेला–शोभा–कान्ति–दीप्ति, माधुर्य–शौर्य–प्रागल्भ्य–उदारता–स्थैर्य–गम्भीरता ये स्त्रियों के बारह विभाव कहे गये हैं। भाव–विलास हाव होता है। और भाव कुछ हर्ष से उत्पन्न होता है।

वाचोयुक्तिभवेद्वागारम्भो द्वादश एव सः।
तत्र भाषणमालापः प्रलापो वचनं बहु ॥51॥

वाचो युक्ति वागारम्भ होता है और वह बारह प्रकार का होता है। उसमें जो भाषण किया जाता है वह आलाप कहा जाता है। बहुत बोलना प्रलाप (अनर्थक वचन) होता है।

विलापो दुःखवचनमनुलापोऽसकृद्वचः।
सलापउक्तप्रत्युक्तमपलापोऽन्यथा वचः ॥52॥

दुःखमय जो वचन होते हैं उसे विलाप कहते हैं। एक वचन को कई बार जो कहा जाता है वह अनुलाप कहा जाता है। उक्ति और प्रत्युक्ति जिसमें होती है उसे संलाप कहते हैं। जो अन्यथा वचन अर्थात् असम्बद्ध वचन है उसे अपलाप कहते हैं।

वार्ता प्रयाणं सदेशो निर्देशः प्रतिपादनम्।
तत्त्वदेशोऽतिदेशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम् ॥53॥
उपदेशश्च शिक्षावाग्व्याजोक्तिर्व्यपदेसकः।
बोधाय एष व्यापारः सुबुद्धयारम्भ इष्यते।
तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तंयः ॥54॥

वार्त्ता–प्रयाण–सन्देश–निर्देश–प्रतिपादन– तत्व देश– अति देश– अपदेश अन्य वर्णन और शिक्षा की वाणी उपदेश है। जो व्याजोक्ति होती है वह व्यपदेशक होता है। यह व्यापार बोध के लिये सुबुद्धि से आरम्भ अभीष्ट है। उसके तीन भेद हैं रीति, वृत्ति और प्रभृति। ये तीन उन भेदों के नाम हैं।

आनन्द नाटक

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्माभिषेक के अनन्तर देवों के सहित इन्द्रने बाल तीर्थंकर को लाकर अयोध्या में तीर्थंकर के मात–पिता को समर्पण करके आनन्द नाटक किया। इसका वर्णन आदि पुराण में निम्न प्रकार से किया है–

इस प्रकार आनन्द से भरे हुए समस्त पुरवासी जन गीत, नृत्य, वादित्र तथा अन्य अनेक मङ्गल–कार्यों में व्यग्र हो रहे थे। उस समय उस नगर में न तो कोई दीन रहा था, न निर्धन रहा था, न कोई ऐसा ही रहा था जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई हों। और न कोई ऐसा ही था जिसे आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ हो। इस तरह सारे संसार को आनन्दित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वत पर हुआ था वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अयोध्यानगर में हुआ। उन नगरवासियों का आनन्द देखकर अपने आनन्द को प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करने में अपना मन लगाया। ज्यों ही इन्द्र ने नृत्य करना प्रारम्भ किया त्यों ही संगीत करना प्रारम्भ कर दिया। (पृ. 313, 92 से 96)

नाट्य-

कृतानुकरणं नाट्यं तत्प्रयोज्यं यथागमम्।
सचागमो महेन्द्राद्यैर्यथाम्नाय मनुस्मतः ॥97॥

पहले किसी के द्वारा किये हुये कार्य का अनुकरण करना नाट्य कहलाता है, वह नाट्य, नाट्यशास्त्र के अनुसार ही करने के योग्य है और उस नाट्यशास्त्र को इन्द्रादि देव ही अच्छी तरह जानते हैं। जो नाट्य या नृत्य शिष्य–प्रतिशिष्य रूप अन्य पात्रों में संक्रान्त होकर भी सज्जनों का मनोरंजन करता रहता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करने वाला ही करे तो फिर उसकी मनोहरता का क्या वर्णन करना है? तत्पश्चात् अनेक प्रकार के पाठों और चित्र–विचित्र शरीर की चेष्टाओं से इन्द्र के द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरूषों के देखने और सुनने योग्य था।

नाट्य के विभिन्न रूप एवं विभिन्न फल :-

विकृष्टः कुतपन्यासो मही सकुलभूधरा।
रङ्गस्त्रिभुवनाभोगः सहस्त्राक्षो महानटः॥
प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो जगद्गुरुः।
फलं त्रिवर्गसंभूतिः परमानन्द एव च॥
इत्येकशोऽपि संप्रीत्यै वस्तुजातमिदं सताम्।
किमु तत्सर्वसंदोहः पुण्यैरेकत्र संगतः॥ (100 से 102)

उस समय अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे, तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथिवी ही उसकी रंगभूमि थी, स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाला था,

नाभिराज आदि उत्तम–उत्तम पुरूष उस नृत्य के दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव उसके आराध्य. (प्रसन्न करने योग्य) देव थे, और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरूषार्थो की सिद्धि तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल था। इन ऊपर कही हुई वस्तुओं में से एक–एक वस्तु भी सज्जन पुरूषों की प्रीति उत्पन्न करने वाली है। फिर पुण्योदय से पूर्वोक्त सभी वस्तुओं का समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या है?

उस समय इन्द्रने पहले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) रूप फल को सिद्ध करने वाला गर्भावतार सम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेक सम्बन्धी नाटक करना प्रारम्भ किया। तदनन्तर इन्द्रने भगवान् के महाबल आदि दशावतार सम्बन्धी वृत्तान्त को लेकर अनेक रूप दिखलाने वाले अन्य अनेक नाटक करना प्रारम्भ किये। उन नाटकों का प्रयोग करते समय इन्द्रने सबसे पहले पापों का नाश करने के लिए मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्वरंग का प्रारम्भ किया। पूर्वरंग प्रारम्भ करते समय इन्द्र ने पुष्पांजलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया। ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ में उसने नान्दी मङ्गल किया और फिर नान्दी मंगल कर चुकने के बाद रंगभूमि में प्रवेश किया। उस समय नाट्यशास्त्र के अवतार को जानने वाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करने वाला वह इन्द्र बहुत ही शोभायमान हो रहा था। जिस समय वह रंग–भूमि में अवतीर्ण हुआ था उस समय वह वैशाख–आसन से खड़ा हुआ था। अर्थात् पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमर पर रखे हुए था और चारों ओर से मानों मरूत् अर्थात् देवों से घिरा हुआ था। इससे ऐसा जान पडता था मानो मरूत् अर्थात् वातवलयों से घिरा हुआ लोकस्कन्ध ही हो। रंग–भूमि के मध्य में पुष्पांजलि बिखेरता हुआ वह इन्द्र ऐसा भला मालूम होता था मानो अपने पान करने से बचे हुए नाट्यरस को दूसरों के लिए बाँट ही रहा हो। वह इन्द्र अच्छे–अच्छे वस्त्राभूषणों से शोभायमान था और उत्तम नेत्रों का समूह धारण कर रहा था। इसीलिए पुष्पों और आभूषणों से सहित किसी कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहा था।

जिसके पीछे अनेक मदोन्मत्त भौंरे दौड़ रहे है ऐसी वह पड़ती हुई पुष्पांजलि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाश को चित्र–विचित्र करने वाले इन्द्र के नेत्रों का समूह ही हो। इन्द्र के बड़े–बड़े नेत्रों की पंक्ति जवनिका (परदा) की शोभा धारण करने वाली अपनी फैलती हुई प्रभा से रंगभूमि को चारों ओर

से आच्छादित कर रही थी। वह इन्द्र के ताल के साथ–साथ पैर रखकर रंगभूमि के चारों ओर घूमता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो पृथ्वी को नाप ही रहा हो। जब इन्द्र ने पुष्पांजली क्षेपण कर ताण्ड़व नृत्य करना प्रारम्भ किया तब उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए देवों ने स्वर्ग अथवा आकाश से पुष्पवर्षा की थी। उस समय दिशाओं के अन्तःभाग तक प्रतिध्वनि को विस्तृत करते हुए पुष्कर आदि करोड़ों बाजे एक साथ गम्भीर शब्दों से बज रहे थे। वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मनोहर मुरली भी मधुर शब्दों से बज रही थी और उन बाजों के साथ–ही–साथ ताल से सहित संगीत के शब्द हो रहे थे। वीणा बजानेवाले मनुष्य जिस स्वर वा शैली से वीणा बजा रहे थे, साथ के अन्य बाजों के बजानेवाले मनुष्य भी अपने–अपने बाजों को उसी स्वर वा शैली से मिलाकर बजा रहे थे, सो ठीक ही है एक–सी वस्तुओं में मिलाप होना ही चाहिए। उस समय वीणा बजाती हुई किन्नर देवियाँ कोमल, मनोहर, कुछ–कुछ गम्भीर, उच्च और सूक्ष्मरूप से गा रही थी। जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरू का उपदेश पाकर मधुर शब्द करता है और अनुमानादि के प्रयोग में किसी प्रकार का वाद–विवाद नहीं करता हुआ अपने उत्तम वंश (कुल) के योग्य कार्य करता है उसी प्रकार वंशी आदि बाँसों के बाजे भी मुखका सम्बन्ध पाकर, मनोहर शब्द कर रहे थे और नृत्य संगीत आदि के प्रयोग में किसी प्रकार का विवाद (विरोध) नहीं करते हुए अपने वंश (बाँस) के योग्य कार्य कर रहे थे। इस प्रकार इन्द्रने पहले तो शुद्ध (कार्यान्तर से रहित) पूर्वरंग का प्रयोग किया और फिर करण (हाथों का हिलना) अङ्गहार (शरीर का भटकना) के द्वारा विविध रूप में उसका प्रयोग किया। वह इन्द्र पाँव, कमर, कण्ठ और हाथों को अनेक प्रकार से घुमाकर उत्तम रस दिखलाता हुआ ताण्डव नृत्य कर रहा था। जिस समय वह इन्द्र विक्रिया से हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथिवी उसके पैरों के रखने से हिलने लगी थी मानो फट रही हो, कुलपर्वत तृणों की राशि के समान चञ्चल हो उठे थे और समुद्र भी मानो आनन्द से शब्द करता हुआ लहराने लगा था। उस समय इन्द्र की चञ्चल भुजाएँ बड़ी ही मनोहर थी। वह शरीर से स्वयं ऊँचा था और चञ्चल वस्त्र आभूषणों से सहित था। इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिसकी शाखाएँ हिल रही हैं। जो बहुत ऊँचा है और जो हिलते हुए वस्त्र तथा आभुषणों से सुशोभित है ऐसा कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हों। उस समय इन्द्र के हिलते हुए मुकुट में

लगे हुए रत्नों की किरणों के मण्डल से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो हजारों बिजलियों से ही व्याप्त हो रहा हो। नृत्य करते समय इन्द्र की भुजाओं के विक्षेप से बिखरे हुए तारे चारों ओर फिर रहे थे और ऐसे मालुम होते थे मानो फिरकी लगाने से टूटे हुए हार के मोती ही हो। नृत्य करते समय इन्द्र की भुजाओं के उल्लास से टकराये हुये तथा पानी की छोटी-छोटी बूँदों को छोड़ते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे मानो शोक से आँसू ही छोड़ रहे हों। नृत्य करते-करते जब कभी इन्द्र फिरकी लेता था तब उसके वेग के आवेश से फिरती हुई उसके मुकुट के मणियों की पंक्तियाँ अलातचक्र की नाईं भ्रमण करने लगती थीं। इन्द्र के उस नृत्य के क्षोभ से पृथिवी क्षुभित हो उठी थी, पृथवी के क्षुभित होने से समुद्र भी क्षुभित हो उठे थे और उछलते हुए जल के कणों से दिशाओं की भित्तियों का प्रक्षालन करने लगे थे। नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण-भर में एक रह जाता था, क्षण-भर में अनेक हो जाता था। क्षण-भर में पास ही दिखाई देता था, क्षण-भर में दूर पहुँच जाता था। क्षण-भर में सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षण-भर में छोटा सा रह जाता था, क्षण-भर में आकाश में दिखाई देता था, और क्षण-भर में फिर से जमीन पर आ जाता था। इस प्रकार विक्रिया से उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्य को प्रकट करते हुए उस इन्द्र ने उस समय ऐसा नृत्य किया था मानो इन्द्रजाल का खेल ही किया हो। इन्द्र की भुजारूपी शाखाओं पर मन्द-मन्द हँसती हुई अप्सराएँ लीलापूर्वक भौंहरूपी लताओं को चलाती हुई, शरीर हिलाती हुई और सुन्दरतापूर्वक पैर उठाती रखती हुई (थिरक-थिरककर) नृत्य कर रहीं थी। उस समय कितनी देवनर्तकियाँ वर्द्धमान लय के साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्य के साथ और कितनी ही अनेक प्रकार के अभिनय दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं। कितनी देवियों का और कितनी ही इन्द्र का शरीर धारण कर नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रवेश तथा निष्क्रमण दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं। उस समय इन्द्र की भुजा रूपी शाखाओं पर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कल्पवृक्ष की शाखाओं पर फैली हुई कल्प लताएँ ही हों। वह श्रीमान् इन्द्र नृत्य करते समय उन देवियों के साथ जब फिरकी लगाता था तब उसके मुकुट का सेहरा भी हिल जाता था और वह ऐसा शोभायमान होता था मानो कोई चक्र ही घूम रहा हो। हजार आँखों को धारण करनेवाला वह इन्द्र फूले हुए विकसित कमलों से सुशोभित तालाब के समान जान पड़ता था और मन्द-मन्द हँसते हुए मुखरूपी कमलों से शोभायमान, भुजाओं पर नृत्य

करने वाली वे देवियाँ कमलिनियों के समान जान पड़ती थीं। मन्द हास्य की किरणों से मिले हुए उन देवियों के मुख ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अमृत के प्रवाह में डूबे हुए विकसित कमल ही हों। कितनी ही देवियाँ कुलाचलों के समान शोभायमान उस इन्द्र की भुजाओं पर आरूढ़ होकर नृत्य कर रही थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरीर धारिणी लक्ष्मी ही हों। ऐरावत हाथी के बाँधने के खम्भे के समान लम्बी इन्द्र की भुजाओं पर आरूढ़ होकर कितनी ही देवियाँ नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम थी मानो कोई अन्य वीर लक्ष्मी ही हों। नृत्य करते समय कितनी देवियों का प्रतिबिम्ब उन्हीं के हार के मोतियों पर पड़ता था जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो इन्द्र की बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही हो। कितनी ही देवियाँ इन्द्र के हाथों की अंगुलियों पर अपने चरण-पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थी मानों सूची नाट्य (सुई की नोक पर किया जाने वाला नृत्य) ही कर रही हों। कितनी ही देवियाँ सुन्दर पर्वों सहित इन्द्र की अँगुलियों के अग्रभाग पर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगा रही थीं मानो किसी बाँस की लकड़ी पर चढ़कर उसके अग्रभाग पर नाभि रखकर मनोहर फिरकी लगा रही हों। देवियाँ इन्द्र की प्रत्येक भुजा पर नृत्य करती हुई और अपने नेत्रों के कटाक्षों को फैलाती हुई बड़े यत्न से संचार कर रही थीं। उस समय उत्सव को बढ़ाता हुआ वह नाट्यरस उन देवियों के शरीर में खूब ही बढ़ रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उनके कटाक्षों में प्रकट हो रहा हो, कपोलों में स्फुरायमान हो रहा हो, पाँवों में फैल रहा हो, हाथों में विलसित हो रहा हो, मुखों पर हँस रहा हो, नेत्रों मे विकसित हो रहा हो, अंगराग में लाल वर्ण हो रहा हो, नाभि में निमग्न हो रहा हो, कटिप्रदेशों पर चल रहा हो और मेखलाओं पर स्खलित हो रहा हो। नृत्य करते हुए इन्द्र के प्रत्येक अंग में जो चेष्टाएँ होती थीं वही चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रों में हो रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ने अपनी चेष्टाएँ उन सबके लिए बाँट ही दी हों। उस समय इन्द्र के नृत्य में जो रस, भाव अनुभाव और चेष्टाएँ थी वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रों में थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ने अपनी चेष्टाएँ उन सबके लिए बाँट ही दी हों। उस समय इन्द्र के नृत्य में जो रस, भाव अनुभाव और चेष्टाएँ थीं वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रों में थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्र ने अपनी आत्मा को ही उनमें प्रविष्ट करा दिया हो। अपने भुजदण्डों पर देवनर्तकियों

को नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो किसी यन्त्र की पटियों पर लकड़ी की पुतलियों को नचाता हुआ कोई यान्त्रिक अर्थात् यन्त्र चलाने वाला ही हो। वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियों को कभी ऊपर आकाश में चलाता था, कभी सामने नृत्य करती हुई दिखला देता था और कभी क्षण-भर में उन्हें अदृश्य कर देता था, इन सब बातों से वह किसी इन्द्रजाल का खेल करने वाले के समान जान पड़ता था। नृत्य करनेवाली देवियों को अपनी भुजाओं के समूह पर गुप्त रूप से जहाँ-तहाँ घुमाता हुआ वह इन्द्र हाथ की सफाई दिखलाने वाले किसी बाजीगर के समान जान पड़ता था। वह इन्द्र अपनी एक ओर की भुजाओं पर तरूण देवों को नृत्य करा रहा था और दूसरी ओर की भुजाओं पर तरूण देवियों को नृत्य करा रहा था तथा अद्भूत विक्रिया शक्ति दिखलाता हुआ अपनी भुजारूपी शाखाओं पर स्वयं भी नृत्य कर रहा था। इन्द्र की भुजारूपी रंगभूमि में वे देव और देवांगनाएँ प्रदक्षिणा देती हुई नृत्य कर रही थीं इसलिए वह इन्द्र नाट्यशास्त्र के जानने वाले सूत्रधार के समान मालूम होता था। उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्धत रस से भरा हुआ ताण्डव नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगों से भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रसवाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य दिखलाते हुए इन्द्र ने सभा के लोगों में अतिशय प्रेम उत्पन्न किया था। इस प्रकार जिसमें श्रेष्ठ गन्धर्वों के द्वारा अनेक प्रकार के बाजों का बजाना प्रारम्भ किया गया था ऐसा आनन्द नामक नृत्य किसी उद्यान के समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उद्यान काँस और ताल (ताड़) वृक्षों से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी काँसे की बनी हुई झांझों के ताल से सहित था, उद्यान जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे बांसों के फैलते हुए शब्दों से व्याप्त रहता है, उसी प्रकार वह नृत्य भी उत्कृष्ट बाँसुरियों के दूर तक फैलने वाले शब्दों से व्याप्त था, उद्यान जिस प्रकार अप्सरा अर्थात् जल के सरोवरों से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी अप्सरा अर्थात् देवनर्तकियों से सहित था और उद्यान जिस प्रकार सरस अर्थात् जल से सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी सरस अर्थात् शृङ्गार आदि रसों से सहित था। महाराज नाभिराज मरूदेवी के साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रों के द्वारा की हुई प्रशंसा को प्राप्त हुए। **(आ. पु. चतुदर्श पर्व)**

6 विभिन्न कलामें निपुण "केकया"

उनमें जिसके सर्व अंग सुन्दर थे, जो उत्तम लक्षणों को धारण करनेवाली तथा समस्त कलाओं की पारगामिनी थी, ऐसी केकया नामकी पुत्री अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। (5) (पृ.स. 478, पद्म पुराण)

नृत्य कला

अङ्गहाराश्रयं नृत्यं तयाभिमनसंश्रयम्।
व्यायामिकं च साज्ञासीत्तत्प्रभेदैः समन्वितम् ॥6॥

अंगहाराश्रय, अभिनयाश्रय और व्यायामिक के भेद से नृत्य के तीन भेद हैं। तथा इनके अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं सो वह इन सबको जानती थी।

वह उस संगीत को अच्छी तरह जानती थी जो कण्ठ, शिर और उरस्थल इन तीन स्थानों से अभिव्यक्त होता था, तथा नीचे लिखे सात स्वरों में समवेत रहता था। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद ये सात स्वर कहलाते हैं। जो द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीन लयों से सहित था, तथा अस्त्र और चतुरस्त्र इन तालकी दो योनियों को धारण करता था। स्थायी, संचारी, आरोही और अवरोही इन चार प्रकार के वर्णो से सहित होने के कारण जो चार प्रकार के पदों से स्थिर था। प्रतिपदिक,तिङन्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कार को प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी यह तीन प्रकार की भाषायें जिसमें स्थिर थीं। धैवती, आर्षभी, षड्ज-षड्जा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्जकैकशी और षड्जमध्यमा ये आठ जातियाँ हैं अथवा गान्धारोदीच्या, मध्यमपंचमी, गान्धारपंचमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्य-मोदीच्या, कर्मारवी, नन्दिनी और कैशिकी ये दश जातियाँ है। सो जो संगीत इन आठ अथवा दश जातियों से युक्त था तथा इन्हीं और आगे कहे जाने वाले तेरह अलंकारों से सहित था। प्रसन्नादि, प्रसनान्त, मध्यप्रसाद और प्रसन्नाद्यवसान ये चार स्थायी पद के अलंकार हैं। निवृत्त, प्रस्थित, बिन्दु, प्रेंखोलित, तार-मन्द्र और प्रसन्न ये छह संचारी पद के अलंकार हैं। आरोही पद का प्रसन्नादि नामका एक ही अलंकार है और अवरोही पद के प्रसन्नान्त तथा कुहर ये दो अलंकार हैं। इस प्रकार तेरह अलंकार हैं सो इन सब लक्षणों से सहित उत्तम संगीत को वह अच्छी तरह जानती थी। तन्त्री अर्थात् वीणा से उत्पन्न होनेवाला

तत, मृदंग में उत्पन्न होनेवाला, अवनद्ध, बाँसरी से उत्पन्न होनेवाला शुबिर, और ताल से उत्पन्न होने वाला घन ये चार प्रकार के वाद्य हैं, ये सभी वाद्य नाना भेदों से सहित हैं। वह केकया इन सबको इस तरह जानती थी कि उसकी समानता करने वाला दूसरा व्यक्ति विरला ही था।

नाट्य कला

कलानां तिसृणामासां नाट्यममेकीक्रियोच्यते।
श्रृङ्गारहास्यकरूणवीराद्भुतभयानकाः ॥22॥
रौद्रबीभत्सशान्ताएव रसास्तत्र नवोदिताः।
वेत्ति स्म तदसौ बाला सप्रभेदमनुत्तमम् ॥23॥

गीत, नृत्य और वादित्र इन तीनों का एक साथ होना नाट्य कहलाता है। शृंगार, हास्य, करूणा वीर, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त ये नौ रस कहे गये है। वह बाला केकया उन्हें अनेक अवान्तर भेदों के साथ उत्कृष्टता से जानती थी।

लिपि कला

अनुवृत्तं लिपिज्ञानं यत्स्वदेशे प्रवर्तते।
द्वितीयं विकृतं ज्ञेयं कल्पितं यत्स्वसंज्ञया ॥24॥
प्रत्यङ्गादिषु वर्षेषु तत्वं सामयिकं स्मृतम्।
नैमित्तिकं च पुष्पादिद्रव्यविन्यासतोऽपरम् ॥25॥
प्राच्यमध्यमयौधेयसमाद्रादिभिरश्वितम्।
लिपिज्ञानमसौ बाला किल ज्ञातवती परम् ॥26॥

जो लिपि अपने देश में आमतौर से चलती है उसे अनुवृत्त कहते हैं। लोग अपने–अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं उसे विकृत कहते हैं। प्रत्यंग आदि वर्णों में जिसका प्रयोग होता है उसे सामयिक कहते हैं और वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपि का ज्ञान किया जाता हैं उसे नैमित्तिक कहते हैं। इस लिपि के प्राच्य, मध्यम, यौधेय, समाद्र आदि देशों की अपेक्षा अनेक अवान्तर भेद होते हैं सो केकया उन सबको अच्छी तरह जानती थी।

उक्ति कौशल – कला

अस्त्युक्तिकौशलं नाम भिन्नस्थानादिभिः कला।
स्थानं स्वरोऽय संस्कारो विन्यासः काकुना सह ॥27॥

समुदायो विरामरश्व सामान्याभिहितस्तथा।
समानार्थत्वभाषा च जातयश्व प्रकीर्तिताः ॥28॥
उरः कण्ठः शिरश्वेति स्थानं तत्र त्रिधा स्मृतम्।
उक्त एव स्वरः पूर्व षड्जातिः सप्तभेदकः ॥29॥
संस्कारो द्विविधः प्रोक्तो लक्षणोद्देशतस्थला।
विन्यासस्तु सखण्डाः स्युः पदवाक्यास्तदुत्तराः ॥30॥
सापेक्षा निरपेक्षा च काकु र्भेदद्वयान्विता।
गद्यः पद्यश्च मिश्रश्च समुदायस्त्रिधोदित ॥31॥
संक्षिप्तवा विरामस्तु सामान्यभिहितः पुनः।
शब्दानामेकवाच्यानां प्रयोगः परिकीर्तितः ॥32॥
तुल्यार्थतैकशब्देनं बहवर्थप्रतिपादनम्।
भाषार्यलक्षणम्लेच्छनियमात्त्रिविधा स्मृता ॥33॥
पद्यव्ययहतिर्लेख एवमाद्यास्तु जातयः।
व्यक्तवाग्लोकवाग्मार्गव्यवहारश्च मातरः ॥34॥
एतेषामपि भेदानां ये भेदा बुधगोचराः।
सर्वैरेभिः समायुक्तं सात्यवैदुक्तिकौशलम् ॥35॥

जिसके स्थान आदि के अपेक्षा अनेक अवान्तर भेद होते है ऐसी उक्ति कौशल नामकी कला हैं। स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय, विराम, सामान्याभिहित, समानार्थत्व और भाषा ये जातियाँ कही गयी हैं। इनमें से उरस्थल, कण्ठ और मूर्छा के भेद से स्थान तीन प्रकार का माना गया है। स्वर के षड्ज आदि सात भेद पहले कह ही आये हैं। लक्षण और उद्देश अथवा लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा संस्कार दो प्रकार का कहा गया है। पदवाक्य, महावाक्य आदि के विभागसहित जो कथन है वह विन्यास कहलाता है। सापेक्षा और निरपेक्षा की अपेक्षा काकु दो भेदों से सहित हैं। गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू की अपेक्षा समुदाय तीन प्रकार का कहा गया है। किसी विषय का संक्षेप में उल्लेख करना विराम कहलाता है। एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना सामान्याभिहित कहा गया है। एक शब्द के द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन करना समानार्थता है। आर्य, लक्षण और म्लेच्छ के नियम से भाषा तीन प्रकार की कही

गयी है। इनके सिवाय जिसका पद्यरूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं। ये सब जातियाँ कहलाती हैं। व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्ग व्यवहार ये मातृकाएँ कहलाती हैं। इन सब भेदों के भी अनेक भेद हैं जिन्हें विद्वज्जन जानते हैं। इन सबसे सहित जो भाषण–चातुर्य है उसे उक्ति–कौशल कहते हैं। कैकया इस उक्ति–कौशल को अच्छी तरह जानती थी।

चित्रकला

शुष्कचित्रंद्विधा प्रोक्तं नानाशुष्कं च वर्जितम्।
आर्दचित्रं पुनर्नाना चन्दनादिद्रवोद्भवम् ॥36॥
कृत्रिमाकृत्रिमैरङ्गैर्भूजलाम्बरगोचरम्।
वर्णकश्लेषसंयुक्तं सा विवेदाखिलं शुभा ॥37॥

नाना शुष्क और वर्जित के भेद से शुष्कचित्र दो प्रकार का कहा गया है तथा चन्दनादि के द्रव से उत्पन्न होनेवाला आर्द्र चित्र अनेक प्रकार का है। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों के द्वारा पृथ्वी, जल, तथा वस्त्र आदि के ऊपर इसकी रचना होती है। यह अनेक रंगों के सम्बन्ध से संयुक्त होता है। शुभ लक्षणों वाली केकया इस समस्त चित्रकला को जानती थी।

पुस्तककर्म-कला

पुस्तकर्म त्रिधा प्रोक्तं क्षयोपचयसंक्रमैः।
तक्षणादिक्रमोद्भूतं काष्टादौ क्षमजं स्मृतम् ॥38॥
उपचित्या मृदादीनामुपचेयं तु कथ्यते।
संक्रान्तं तु यदाहरस्य प्रतिबिम्बं विभाव्यते ॥39॥
यन्त्रनिर्यन्त्रसच्छिद्रनिश्छिद्रादिभिरन्वितम्।
सा जज्ञे तधाद्या भद्रा लोकेभ्यो दुर्लभस्तथा ॥40॥

क्षय उपचय और संक्रम के भेद से पुस्तकर्म तीन प्रकार कहा गया है। लकडी आदि को छील–छालकर जो खिलौना आदि बनाये जाते हैं उसे क्षयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। ऊपर से मिट्टी आदि लगाकर जो खिलौना आदि बनाये जाते हैं उसे उपचयन्य पुस्तकर्म कहते हैं तथा जो प्रतिबिम्ब अर्थात् साँचे आदि लाकर बनाये जाते हैं उसे संक्रमजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। यह पुस्तकर्म यन्त्र, निर्यन्त्र सच्छिद्र तथा निश्छिद्र आदि के भेदों से सहित हैं, अर्थात् कोई खिलौना यन्त्रचालित होते

हैं, और कोई बिना यन्त्र के होते हैं, कोई छिद्रसहित होते हैं, कोई छिद्ररहित। वह केकया पुस्तकर्म को ऐसा जानती थी जैसा दूसरों के लिए दुर्लभ था।

पत्रच्छेदक कला

बुष्किमं छिन्नमाछिन्नं पत्रच्छेद्यं त्रिधोदितम्।
सूचीदन्त्यादिभिस्तत्र निर्मितं बुष्किमं स्मृतम् ॥41॥
कर्तराच्छेदनोद्भूतं छिन्नं संबन्धसंयुतम्।
विच्छिन्नं तु तदुद्भूतं संबन्धपरिवर्जितम् ॥42॥
पत्रवस्त्रसुवर्णादिसंभवं स्थिरचञ्चलम्।
निर्णिन्ये सा परं चार्वी संवृतासंवृतादिजम् ॥43॥

पत्रच्छेद के तीन भेद हैं– बुष्किमय, छिन्न और अछिन्न। सुई अथवा दन्त आदि के द्वारा जो बनाया जाता है उसे बुष्किम कहते हैं। जो कैंची से काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के सम्बन्ध से युक्त होता है उसे छिन्न कहते हैं। तथा जो अवयवो से सहित होता है उसे अछिन्न कहते हैं। यह पत्रच्छेद्यक्रिया पत्र, वस्त्र तथा सुवर्णादिक के ऊपर की जाती हैं तथा स्थिर और चंचल दोनों प्रकार की होती है। सुन्दरी केकया ने इस कला का अच्छी तरह निर्णय किया था।

मालानिर्माण कला

आर्द्र शुष्कं तदुन्मुक्तं मिश्रं चेति चतुर्विधम्।
माल्यं तत्रार्द्रपुष्पादिसंभवं प्रथमं मतम् ॥44॥
शुष्कपत्रादिसंभूतं शुष्कमुक्तं तदुज्झितम्।
सिक्थकादिसमुद्भूतं संकीर्ण तु त्रिसंकरात् ॥45॥
रणप्रबोधनव्यूहसंयोगादिभिरन्वितम्।
तद्विधातुमलं प्राज्ञा साज्ञासोत् पूरणादिजम् ॥46॥

आर्द्र, शुष्क, तदुन्मुक्त और मिश्र के भेद से मालानिर्माण की कला चार प्रकार की है। इनमें से गीले अर्थात् ताजे पुष्पादि से जो माला बनायी जाती है उसे आर्द्र कहते हैं, सूखे पत्र आदि से जो बनायी जाती है शुष्क कहते हैं। चावलों के साथ अथवा जवा आदिसे जो बनायी जाती है उसे तदुज्झित कहते हैं और जो उक्त तीनों चीजों के मेल से बनायी जाती है उसे मिश्र कहते हैं। यह माल्यकर्म रणप्रबोधन, व्यूहसंयोग आदि भेदों से सहित होता है वह बुद्धिमती केकया इस समस्त कार्य

को करना अच्छी तरह जानती थी।

गन्ध योजना कला

योनिद्रव्यमधिष्ठानं रसो वीर्य च कल्पना।
परिकर्म गुणा दोषा युक्तिरेषा तु कौशलम् ॥47॥
योनिर्विशिष्टमूलादिद्रव्यं तु तगरादिकम्।
यद्वर्णवर्तिकाद्येतदधिष्ठानं प्रकीर्तितम् ॥48॥
कषायो मधुरस्तिक्तः कुटुकाम्लश्च कीर्तितः।
रसः पञ्चविधो यस्य निर्हरिण विनिश्चयः ॥49॥
द्रव्याणां शीतमुष्णं च वीर्य तत्र द्विधा स्मृतम्।
कल्पनात्र विवादानुवादसंवादयोजनम् ॥50॥
परिकर्म पुनः स्नेहशोधनक्षालनादिकम्।
ज्ञानं च गुण दोषणां पाटवादीतरात्मनाम् ॥51॥
स्वतन्त्रानुगताख्येन तां भेदेन समन्विताम्।
गन्धयुक्तिमसौ सर्वामजानाद्युक्तविभ्रमा ॥५२॥

योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना, परिकर्म, गुण–दोष विज्ञान तथा कौशल ये गन्धयोजना अर्थात् सुगन्धित पदार्थ निर्माणरूप कला के अंग है। जिनसे सुगन्धित पदार्थों का निर्माण होता है ऐसे तगर आदि योनिद्रव्य हैं, जो धूपबत्ती आदि का आश्रय हैं उसे अधिष्ठान कहते हैं। कषायला, मधुर, चिरपरा, कडुआ और खट्टा यह पाँच प्रकार का रस कहा गया है जिसका सुगन्धित द्रव्य में खासकर निश्चय करना पड़ता है। पदार्थों की जो शीलता अथवा उष्णता है वह दो प्रकार का वीर्य है। अनुकूल–प्रतिकूल पदार्थों का मिलाना कल्पना है। तेल आदि पदार्थों का शोधना तथा धोना आदि परिकर्म कहलाता है, गुण अथवा दोष का जानना सो गुण–दोष विज्ञान है और परकीय तथा स्वकीय वस्तु की विशिष्टता जानना कौशल है। यह गन्धयोजना की कला स्वतन्त्र और अनुगतके भेद से सहित है। केकया इस सबको अच्छी तरह जानती थी।

आस्वद्य विज्ञान

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चूष्यं च पञ्चधा
आसाधं तत्र भक्ष्यं तु कृत्रिमा कृत्रिमं स्मृतम् ॥53॥

भोज्यं द्विधा यवाग्वादिविशेषाश्चौदनादयः।
शीतयोगो जलं मधमिति पेयं त्रियोदितम् ॥54॥
रागखाण्डवलेह्याख्यं लेह्यं त्रिविधमुच्यते।
कृत्रिमाकृत्रिमं चूष्यं द्विविधं परिकीर्तितम् ॥55॥
पाचनच्छेदनोष्णत्वशीतत्वकरणादिभिः।
युक्तमास्वाद्यविज्ञानमीसात्तस्या मनोहरम् ॥56॥

भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चूष्य के भेद से भोजन सम्बन्धी पदार्थो के पांच भेद हैं। इनमें से जो स्वाद के लिए खाया जाता है उसे भक्ष्य कहते हैं। यह कृत्रिम तथा अकृत्रिम के भेद से दो प्रकार का है। जो क्षुधा–निवृत्ति के लिए खाया जाता है उसे भोज्य कहते हैं, इसके भी मुख्य और साधक की अपेक्षा से दो भेद हैं। ओदन, रोटी आदि मुख्य भोज्य हैं और लप्सी, दाल, शाक आदि साधक भोज्य हैं। शीतयोग (शर्बत), जल और मध के भेद से पेय तीन प्रकार का कहा गया है। इन सबका होना आस्वाद्य विज्ञान है। यह आस्वाध विज्ञान पाचन, छेदन, उष्णत्लकरण तथा ज्ञान शीतत्वकरण आदि से सहित है, केकया को इन सबका सुन्दर ज्ञान था।

रत्न परीक्षा - कला

वज्र मौक्तिक वैडूर्य सुवर्ण रजतै युद्यम्।
वस्त्रसंखादि चावेदीत् सारत्नं लक्षणादिभिः ॥57॥

वह वज्र अर्थात हीरा, मोती, वैडूर्य (नीलम), सुवर्ण, रजतायुध तथा वस्त्र शंखादि रत्नों को उनके लक्षण आदि से अच्छी तरह जानती थी।

कढाई कला

तन्तुसंतानयोगं च वस्त्रस्य बहुवर्णकम्।
रागाद्यानं च सा चारु विवेदातिशयान्वितम् ॥58॥

वस्त्र पर धागे से कढाई का काम करना तथा वस्त्र को अनेक रंगों में रंगना इन कार्यो को वह बड़ी सुन्दरता और उत्कृष्टता के साथ जानती थी।

कुटीर शिल्प

लोहदन्तजतुक्षारशिलासूत्रादिसंभवम्।
तथोयपकरणं कर्तु ज्ञातमत्यन्तमुद्भया ॥59॥

वह लोहा, दन्त, लाख, क्षार, पत्थर सुत आदि से बनने वाले नाना उपकरणों को बनाना बहुत अच्छी तरह जानती थी।

गणितज्ञान

मेयदेशतुलाकाल भेदान्मानं चतुर्विधम्।
तत्रप्रस्थादिभिर्भिन्नं भेयभमान्ं प्रकीर्तितम् ॥60॥
देशमानं वितस्त्यादि तुलामानं पलादिकम्।
समयादि तु यन्मानं तत्कालस्य प्रकीर्तितम् ॥61॥
तञ्चारोह परीणाह तिर्यग्गौरव भदेतः।
क्रियातञ्ज समुत्पन्न साध्यगान्मानमुत्तमम् ॥62॥

मेय, देश, तुला और काल के भेद से मान चार प्रकार का है। इसमें से प्रस्थ आदि के भेद से जिसके अनेक भेद हैं उसे मेय कहते हैं। वितरित हाथ देशमान कहलाता है, पल, छटाक, सेर आदि तुलामान कहलाता है। और समय, घड़ी, घण्टा आदि कालमान कहा गया है। यह मान मोह आरोह, परीणाह तिर्यग्गौरव और क्रिया से उत्पन्न होता है। इन सबको वह अच्छी तरह जानती थी।

विविध ज्ञान

भूतिकर्म निधिज्ञानं रूप्यज्ञानं वणिग्विधिः।
अन्यथा जीवन विज्ञानमासीत्तस्या विशेषवत् ॥63॥

भूतिकर्म अर्थात् बेल्यबूटा खींचने का ज्ञान, निधिज्ञान अर्थात् गड़े हुए धन का ज्ञान, रूपज्ञान, वणिग्विधि अर्थात् व्यापार कला तथा जीवविज्ञान अर्थात् जन्तुविज्ञान इन सबको वह विशेष रूप से जानती थी।

चिकित्सा विज्ञान

मानुषद्विपगोवाजिप्रभृतीनां चिकित्सिम्।
सा निदानादिभिभेदयुक्तं ज्ञातवती परम् ॥64॥

वह मनुष्य, हाथी, गौ तथा घोड़ा आदि की चिकित्सा को निदान आदि के साथ अच्छी तरह जानती थी।

विमोहन-कला

मायाकृतं त्रिधा पीडाशक्रजालं विमोहनम्।
मन्त्रोषधादिभिर्जातं तच्च सर्व विवेद सा ॥65॥

विमोहन अर्थात् मूर्च्छा के तीन भेद हैं– मायाकृत, पीडा अथवा इन्द्रजाल कृत और मन्त्र तथा औषधि आदि द्वारा कृत। सो इस सबको वह अच्छी तरह जानती थी।

दर्शन-कला

समयं च समीक्ष्यादि पाखण्डपरिकल्पितम्।
चारित्रेण पदार्थेश्च विवेद विविधैर्युतम् ॥66॥

पाखण्डीजनों के द्वारा कल्पित मतों को वह उनमें वर्णित चारित्र तथा नाना प्रकार के पदार्थों के साथ अच्छी तरह जानती थी।

क्रीडा-कला

चेष्टोपकरणं वाणी कलाव्यव्यसनं तथा।
क्रीडा चतुर्विधा प्रोक्ता तत्र चेष्टा शरीरजा ॥67॥
कन्दुकादि तु विज्ञेयं तत्रोपकरणं बहु।
वाक्क्रीडनं पुनर्नाना सुभाषितसमुद्भवम् ॥68॥
नाना दुरोदस्यासः कलाव्यव्यसंनं स्मृतम्।
क्रीडायां बहुभेदायामस्यां सात्यन्तकोविदा ॥69॥

चेष्टा, उपकरण, वाणी और कला व्यासंग के भेद से क्रीडा चार प्रकार की कही गयी है। उसमें शरीर से उत्पन्न होने वाली क्रीड़ा को चेष्टा कहा है। गेंद आदि खेलना उपकरण है, नाना प्रकार के सुभाषित आदि कहना वाणी–क्रीडा है और जुआ आदि खेलना कलाव्यासंग नामक क्रीडा है इस प्रकार वह अनेक भेदवाली क्रीडा में अत्यन्त निपुण थी।

लोकज्ञता-कला

आश्रिताश्रयतों मित्रो लोको द्विविध उच्यते।
आश्रिता जीवनिर्जीवा पृथिव्यादिस्तदाश्रयाः ॥70॥
तत्र नानाभवोत्पत्तिः स्थितिर्नश्वरता तथा।
ज्ञामते यदिदं प्राक्तं लोकज्ञत्वं सुदुर्गभम् ॥71॥
पौर्वापर्योधरो भूर्यद्वीपदेशादिभेदतः।
स्वभावावस्थिते लोके बभूवास्तदुत्तमम् ॥72॥

आश्रित और आश्रय के भेद से लोक दो प्रकार का कहा गया है। इनमें से

जीव और अजीव तो आश्रित है तथा पृथ्वी आदि उनके आश्रय है। इसी लोक में जीव की नाना पर्यायों में उत्पत्ति हुई है, उसी में यह स्थिर रहा है तथा उसी में उसका नाश होता है यह सब जानना लोकज्ञता है। यह लोकज्ञता प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पूर्वापर पर्वत, पृथ्वी, द्वीप, देश, आदि भेदों में यह लोक स्वभाव से ही अवस्थित है। केकया को इसका उत्तम ज्ञान था।

संवाहन (मालिश) कला

संवाहनकला द्वेधा तत्रैका कर्मसंश्रया।
शय्यौपचारिका चान्या प्रतमातु चतुर्विधा॥73॥
त्वङ्मांसस्थिमनः सौख्यादेते त्वासामुपक्रमाः।
संस्पृष्ट च गृहीतं च भुक्तितं चलितं तथा॥74॥
आहतं भङ्गित विद्ध पीडितं भिन्नपारीतम्।
मृदुमध्यप्रकृष्टत्वात्तत्पुनर्भिद्यते त्रिधा॥75॥
त्वक्सुखं सुकुमार तु मध्यमं मांससौख्यकृत।
उत्कृष्टमस्थिसौख्याय मृदुगति मनः सुखम्॥76॥
दोषास्तस्याः प्रतीयं यललोम्नामुद्वर्तनं तथा।
निर्मांसपीडितं वाढं केशाकर्षणमद्भुतम्॥77॥
भ्रष्टप्राप्रममार्गेण प्रयातमति भुग्नकम्।
आदेशाहत मत्यर्य भवसुप्रप्रतीयकम्॥78॥
एभिदोषैर्विनिर्मुक्तं सुकुमारमतीव च।
योग्यदेशप्रयुक्तं च ज्ञाताकूतं च शोभनम्॥79॥
करणैर्विविधैर्या तु जन्यते चित्रसौख्यदा।
संवाहनावगम्या सा शय्योपचरणात्मिका॥80॥
संवाहन कलामेतामङ्गप्रत्यङ्गगोचराम्।
अवेदसौ यथा कन्या नान्या नारी तथा धनम्॥81॥

संवाहन कला दो प्रकार की है– उनमें से एक कर्म संश्रया है और दूसरी शय्योपचारिका। त्वचा, मांस, अस्थि और मन इन चार के सुख पहुँचाने के कारण कर्मसंश्रया के चार भेद हैं अर्थात् किसी संवाहन से केवल त्वचा को सुख मिलता है, किसी से त्वचा और मांस को सुख मिलता है, किसी से त्वचा, माँस और हड्डी

को सुख मिलता है, और किसी से त्वचा, मांस, हड्डी एवं मन इन चारों को सुख प्राप्त होता है। इसके सिवाय इसके संपृष्ट– वृहीत, भुक्तित, चलित, आहत, भगित, विद्ध, पीडित और भिन्न पीडित ये भेद भी हैं। ये ही नहीं मृदु, मध्य और प्रकृष्ट के भेद से तीन भेद और होते हैं। जिस संवाहन से केवल त्वचा को सुख होता है वह मृदु अथवा सुकुमार कहलाता है। जो त्वचा और मांस को सुख पहुँचाता है वह मध्यम कहा जाता है। और जो त्वचा माँस तथा हड्डी को सुख देता है वह प्रकृष्ट कहलाता है। इसके साथ जब कोमल संगीत और होता है तब वह मन सुखवाहन कहलाने लगता है। इस संवाहन कला के निम्नलिखित दोष भी हैं– शरीर के रोमों को उलटा उर्ह्तन करना, जिस स्थान में मांस नहीं है वहा अधिक दबाना, केशाकर्षण, अद्भुत, भ्रष्टप्राप्त, अमार्ग प्रयात, अति भुग्नक, अदेशाहत, अत्यर्थ और अवसुप्तप्रतीपक, जो इन दोषों से रहित है, योग्य देश में प्रयुक्त है तथा अभिप्रायको जान कर किया गया है ऐसा सुकुमार संवाहन अत्यन्त शोभास्पद होता है। जो संवाहन क्रिया अनेक कारण अर्थात् आसनों से की जाती है उसे चित्त को सुख देने वाली शय्योपचारिका नामकी क्रिया जाननी चाहिए। अंग–प्रत्यंग से सम्बन्ध रखनेवाली इस संवाहन कला को जिस प्रकार वह कन्या जानती थी उस प्रकार अन्य स्त्री नहीं जानती थी।

वेषकौशल-कला

शरीरवेषसंस्कारकौशलं च कला परा।
स्नानमूर्धजवासादि निरचैषीदिमां च सा॥82॥

स्नान करना, शिरके बाल गूँथना तथा उन्हें सुगन्धित आदि करना यह शरीर संस्कार वेष कौशल नामकी कला है सो वह कन्या इसे भी अच्छी तरह जानती थी इस तरह सुन्दर शीलके धारक तथा विनय रूपी उत्तम आभूषण से सुशोभित वह कन्या इन कलाओं को आदि लेकर लोगों के मन को हरण करने वाली समस्त कलाओं को धारण कर रही थी।

मुनिश्री विद्यानंदीजी को उपाध्याय पदवी के संस्कार करते हुए आचार्य श्री कनकनंदीजी। सहयोगी मुनिश्री आज्ञासागरजी महाराज

हिरणमगरी उदयपुर में आयोजित 21 वें शिविर में आहारदान देते हुए शिविरार्थी

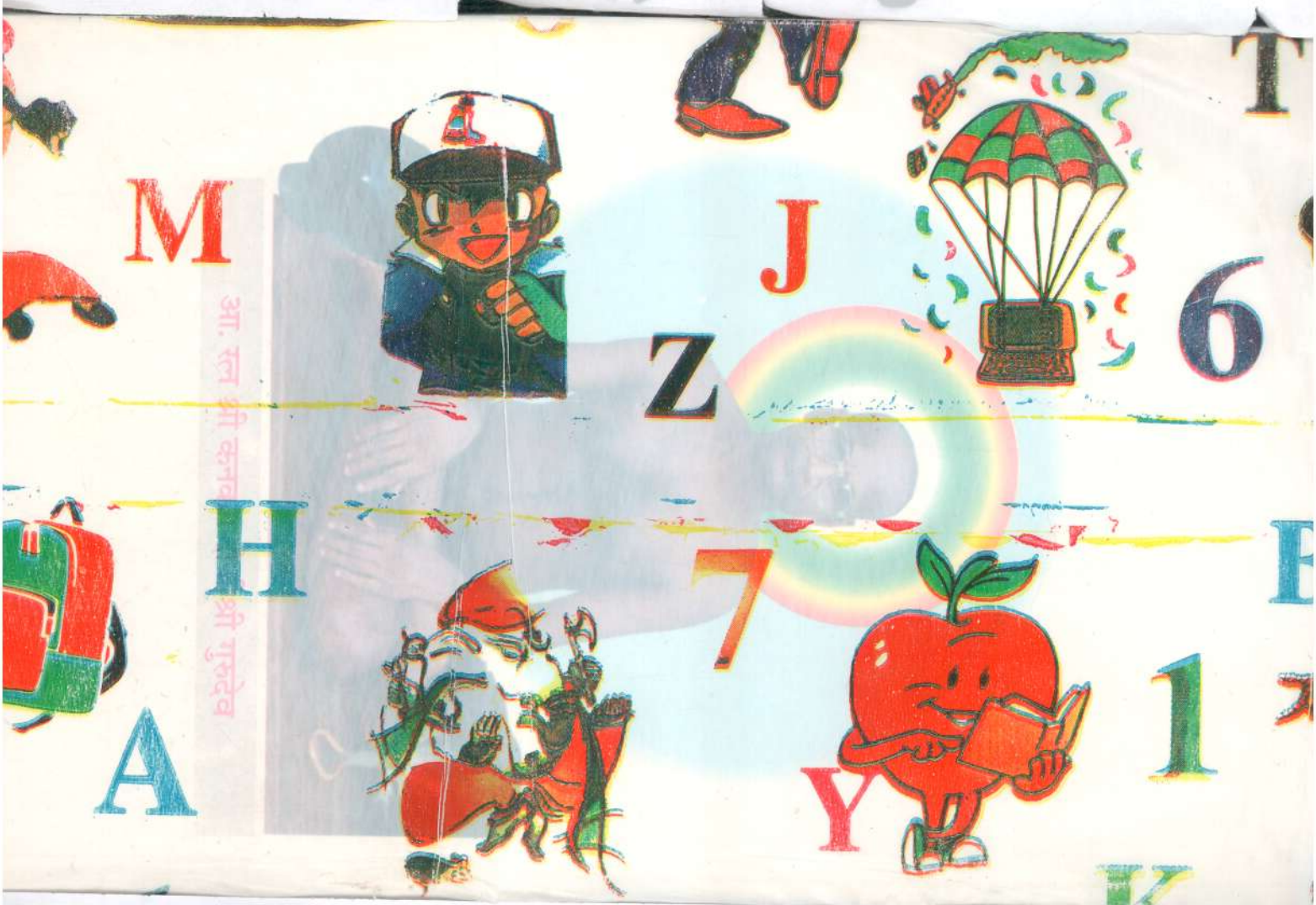
M
J
Z
6
H
7
A
Y
1